॥ हरि:ॐ ॥

ध्येय और ध्यान

श्रीमोटा

संपादक :

डॉ. रमेश म. भट्ट

अनुवादक :

डॉ. कविता शर्मा 'जदली'

प्रकाशक : ट्रस्टी-मंडल,
हरि:ॐ आश्रम, कुरुक्षेत्र, जहांगीरपुरा, सुरत-३९५००५.
फोन : (०२६१) २७६५५६४, २७७१०४६

© हरि:ॐ आश्रम, सुरत, नड़ियाद.

संस्करण : प्रथम

प्रतियाँ : १०००

मूल्य : ....

प्राप्तिस्थान : (१) हरि:ॐ आश्रम, जहांगीरपुरा, सुरत-३९५००५.
(२) हरि:ॐ आश्रम, पो. बो. नं. ७४,
नड़ियाद-३८७००१.

अक्षरांकन : दुर्गा प्रिन्टरी, अहमदाबाद.
फोन : (०७९) २५५०२६२३

मुद्रक : साहित्य मुद्रणालय प्रा. लि.
सिटी मिल कम्पाउन्ड, कांकरिया रोड,
अहमदाबाद-३८० ०२२.
फोन : ०७९-२५४६९१०१

d:\pm5\mar
dhyey_dhya
(2nd I

ngaleshwar\
an_hindi.pmd

Proof)

समर्पणांजलि

सोलन (हिमाचल प्रदेश) के निवासी
पू. श्रीमोटा के प्रेमी और उनके समाजोत्थान की
प्रवृत्ति की सहाय के लिए सदा तैयार स्वजन-परिवार
डॉ. प्रवीण गुप्ता
और
श्रीमती कमलबहन पी. गुप्ता
को

यह प्रकाशन प्रेमपूर्वक समर्पित करते हुए उनके कल्याण के लिए पू. श्रीमोटा को प्रार्थना करते है ।

– ट्रस्टी-मंडल
हरि:ॐ आश्रम, सुरत

दि. ३१-१-२००९
वसंतपंचमी
(पू. श्रीमोटा दीक्षादिन)

अनुक्रमणिका

१. भूमिका ....

२. पूर्वाभास ....

३. जीवन-प्रवेश ....

४. जीवन-उत्क्रांति ....

५. सूक्ष्म संग्राम यात्रा ....

६. परमपद प्रति ....

७. अवतरण ....

पूर्ति : पूज्य श्रीमोटा की आनंदलीला

परिशिष्ट

d:\pm5\mar
dhyey_dhya

(2nd I

॥ हरिःॐ ॥

श्रेयार्थी के लिए अभ्यासपोथी
(संपादकीय)

पूज्य श्रीमोटा का प्रकाशित हुआ विपुल पत्र साहित्य आध्यात्मिक जीवन की दिशा में गति करनेवाले आतुर श्रेयार्थी के लिए प्रेरक तथा मार्गदर्शक है। उसका मूल्य इससे विशेष है। आपश्री की सभी पुस्तकें सही अर्थ में प्रेक्टिस बुक्स (अभ्यासपोथियाँ) हैं। आध्यात्मिक साहित्य पढ़ने तथा मर्म समझने के लिए चिन्तन द्वारा ऐसे साहित्य के कर्ता के हृदय के साथ हमारे मन, बुद्धि से स्पर्श होता है। इस प्रकार यह समय सत्संग में व्यतीत होता है। परन्तु मात्र इतने साधनों के माध्यम से जीवन की ऊर्ध्वगति नहीं होती। किन्तु उन्होंने बताये हुए साधन के नियमित अभ्यास से धीरे धीरे होती जीवन की ऊर्ध्व गति अनुभव की जा सकती है।

पूज्य श्रीमोटा ने श्रेयार्थीयों के लिए ही लिखा है और भागवती उद्देश्य पूर्ति हेतु इस लेख को प्रकाशित होने दिया है। पूज्य श्रीमोटा ने निर्दिष्ट साधना पद्धति समझने के लिए कतिपय शब्दों के अर्थ स्पष्ट करने चाहिए।

ngaleshwar\
an_hindi.pmd
Proof)

(१) श्रेयार्थी अर्थात् अपने श्रेय के लिए आतुर रहनेवाला। श्रेय यानी कल्याण। कल्याण अर्थात् आत्मा का अनुभव। आत्मा के अनुभव को लक्षण और स्वभाव से परख सकते हैं। आत्मा का लक्षण आंतरिक शांति। आत्मा का स्वभाव आनंद। तात्पर्य कि आंतरिक शांति (मन, बुद्धि और वृत्ति की शान्ति) तथा हृदय में अकारण दिव्य आनंद अनुभव हो ऐसी स्थिति आत्मस्थिति के रूप में पहचानी जाती है।

(२) साधना विषयक हम में बहुत अधूरी और अस्पष्ट समझ व्याप्त है। पूज्य श्रीमोटा ने बतलाया है कि साध्य की स्पष्टता के बिना साधना नहीं हो सकती। इसके लिए उन्होंने जीवन के ध्येय के विषय में स्पष्ट होने विषयक बार–बार समझाया है। श्रेयार्थी को किसका अनुभव करना है? उसका साध्य क्या है? उसके जीवन का ध्येय क्या है? यह सब स्पष्ट करने के बाद इष्ट ध्येय फलित हो इस प्रकार सभी क्रियाओं के प्रति सजग रहने पर विशेष भार दिया है।

इससे साध्य अथवा ध्येय को साकार करने हेतु जिसका भी आश्रय लेना पड़े उसे 'साधन' कहा जाता है। उसमें जप, स्मरण, प्रार्थना, निवेदन, भजन, कीर्तन, ध्यान, त्राटक आदि का समावेश होता है। अपने जीवन का ध्येय स्पष्ट होने के बाद ही, उसके

प्रति संपूर्ण सजग होकर तथा रहते हुए जिस साधन का अभ्यास नियमित हो रहा हो उसी क्रिया को साधना गिना जाएगा। मात्र यही साधना है, यह भी अधूरा अर्थ है।

(३) पूज्य श्रीमोटा ने जीवन के अमुक भाग को ही क्रिया में साधना को मर्यादित नहीं किया। आपश्री ने साधना को जीवन की प्रत्येक क्रिया के साथ जोड़ने की पद्धति बताई है। जिससे साधना क्रिया के अंतर्गत जो आंतरिक शुद्धि तथा शक्ति जागृत हो, उसकी कर्म में प्रतिष्ठा हो तभी उस शक्ति का अनुभव हृदय में गहरा पैठाया अनुभव होगा।

प्राप्त कर्म में आंतरिक शक्ति को प्रतिष्ठित करने की पद्धति के प्रति श्रेयार्थी भ्रम में रहते हैं और स्वयं साधक है ऐसी धारणा रखता है; इसमें कैसा सूक्ष्म भ्रम और दंभ रहा है इसका स्पष्ट दर्शन पूज्य श्रीमोटा ने कराया है।

इस पर से श्रेयार्थी को साधना की प्रक्रिया को इस ढंग से संक्षेप में स्मरण में दृढ़ करना चाहिए।

साध्य—साधन (१) साधना—साधक (२) साधना

इसमें (१) साधना यानी स्वभाव—प्रकृति के अनुरूप हो वैसे साधन का अभ्यास। (२) साधना यानी साधन + अभ्यास = साधनाभ्यास से प्रकट होनेवाली—अनुभूत होनेवाली शक्ति का जीवनव्यवहार में विनियोग करने के लिए संपूर्ण जागृति और पुरुषार्थ।

ऐसी जागृति के कारण आंतरिक मन-बुद्धि में मथन करना, चिन्तन, संग्राम और यथायोग्य निर्णय के लिए आवश्यक विवेक का उपयोग करने की व्यग्रता भी अनुभव होती है। ऐसी पल में शुद्धि प्राप्त कर रहे अंतःकरणों की गतिविधि के प्रति पूर्ण सजग रहने पर भी दिशा न सूझे तब प्रार्थना आदि साधनों का उपयोग भी गुरु की करुणा से सूझता है। इस प्रकार जिसका समग्र जीवन स्वयं निश्चित किये ध्येय की ओर गति करता अनुभव होने लगे और विकास के लक्षणों से प्रमाणित होने लगे त्यों त्यों 'आत्मा' को परखा जा सकता है।

● ● ●

हम आत्मा के विषयक जानें यह जरूरी है, परन्तु जब साधन के अभ्यास से आत्मा को परखें यानी कि परखना यह अर्थात् हमारा स्वरूप, यह आत्मा है और आत्म स्वरूप ही आनंद रूप है, मार्गसूचक स्तंभ के समान है। अंत में तो आत्मा का अनुभव करना ही है। अर्थात् ऐसे अनुभव की ओर गति होती जाय तो साधना फलित होने की दिशा की ओर है ऐसा प्रमाणभूत होता है।

d:\pm5\mar
dhyey_dhya
(2nd

पूज्य श्रीमोटा ने इसी लिए श्रेयार्थी को 'ध्येय की स्पष्टता' और क्रिया मात्र को 'उद्देश्य की सभानता' के लिए बार-बार कहा है। पूज्य श्रीमोटाने नाम-स्मरण, प्रार्थना, भजन, कीर्तन, आत्मनिवेदन आदि साधना के अभ्यास की पद्धति और उन साधनों का यथायोग्य विवेकपूर्ण संकलन करने की पद्धति भी समझाई है।

आपश्री ने ध्यान तथा त्राटक के विषय में लिखा है सही, किन्तु इन साधनों के बारे में बार-बार नहीं लिखा है। मात्र औसतन श्रेयार्थी के लिए आवश्यक हो इतना ही लिखा है। फिर समझे बिना और ध्येय की स्पष्टता के बिना इन साधनों का अभ्यास हो यह भी उपयुक्त नहीं, विशेष रूप से सूचित किया है। कारण कि ध्यान विषयक समाज में बहुत ही अस्पष्टताएँ हैं। 'आजकल तो हर कोई आँखें बंद कर ध्यान करते होते हैं ऐसी मान्यता में फँस गये हैं।' ऐसी एक टिप्पणी पूज्य श्रीमोटा ने की है। अतएव निमित्त योग के कारण ध्यान विषयक लिखना पड़ा तब पूज्य श्रीमोटाने अत्यन्त स्पष्टता के साथ ध्यान का अर्थ उसकी पूर्व तैयारी, उस क्रिया की पद्धति, ध्यान के दौरान होनेवाले अनुभव आदि की पर्याप्त समझ देते हुए श्रेयार्थी को योग्य दिशा की ओर प्रेरित किया है।

ngaleshwar\
an_hindi.pmd
Proof)

पूज्य श्रीमोटाने संक्षिप्त किन्तु व्यापक अर्थ के साथ व्याख्या देते हुए कहा था, 'ध्यान यह क्रिया नहीं है, किन्तु अवस्था है, स्थिति है।' 'ध्यान अर्थात् एकाग्रता।' ये सूत्र चिंतनीय हैं। श्रेयार्थी किसका ध्यान करता है? तो उसका उत्तर है कि, 'ध्येय का ध्यान' रखते हैं। अतः ध्यान का उपक्रम इस प्रकार से समझना चाहिए। ध्येय—ध्यान—ध्याता। ये तीनों एकरूप हैं। ध्येय का ध्यान धारण करे वही ध्याता है। जब जीवन का ध्येय निरन्तर ध्यान में रहा करता है, वह ध्यान अवस्था रूप बनता है। ध्याता का अर्थात् ध्यान करनेवाले का इस प्रकार लक्ष्य सतत केन्द्र में हो वही जागृति है।

पूज्य श्रीमोटा ने ध्यान की पूर्व तैयारी के लिए बताया कि हरेक प्रकार के काम से निपटकर संभव हो उतना निश्चिंत रह सकें ऐसी योजना बनानी चाहिए। यदि जीवन को उन्नत करने की तमन्ना और रुचि हो तो ऐसी पूर्व तैयारी हो सकती है। उसके बाद समय और स्थान निश्चित करना चाहिए। दक्षिणाभिमुख या पूर्वाभिमुख की स्थिति रखनी चाहिए। साथ ही मलशुद्धि की अनिवार्यता बतलायी है।

आपश्रीने ध्यान हेतु सुखासन निर्दिष्ट किया है। शरीर की स्थिति बैठने के लिए सानुकूल न हो तो सोते-सोते भी ध्यान किया जा सकता है। अर्थात् श्रेयार्थी को शरीर स्थिर रखने में जो स्थिति अनुकूल लगती हो वैसी व्यवस्था करनी चाहिए। ध्यान के दौरान शरीर जरा भी कष्टमय न बने या रहे ऐसी स्थिति में स्थिर होना चाहिए।

पूज्य श्रीमोटा ने ध्यान के अनेक प्रकार बतलाये हैं। इनमें श्रेयार्थी स्वयं को एकाग्र करने और लीन होने के लिए जिसे अनुकूल समझे वह कर सकता है। ध्यान के प्रकारों में निराकार का ध्यान उत्तम बतलाया है।

ध्यान के लिए उत्तम केन्द्र हृदय है। सूक्ष्म हृदय छाती के मध्य भाग से थोड़ा दायीं ओर है।

ध्यान के लिए शरीर स्थिर रहे ऐसी सुखात्मक स्थिति में बैठकर आँख बंद करके जप करें तथा प्रार्थना करें ऐसा निर्दिष्ट किया है।

'तुम्हारी कृपागंगा से नीरव करना मेरा मन' अथवा 'कृपागंगा तेरी प्रभु ! मुझ पर सतत बरसती रहे प्रभो !' ऐसी प्रार्थना करते रहें। जप तथा प्रार्थना करते-करते ये दोनों अपने आप बंद हों और निश्चित किये केन्द्र पर लक्ष बना रहे ऐसा होने दें।

ध्यान के लिए समयावधि निश्चित करें और उतने समय तो दृढ़ ही रहें। शरीर दुःखे या विचार कैसे भी क्यों न आवें तब भी निश्चित समय पूर्व ध्यान से न उठें।

ध्यान के दौरान बीच में जप या प्रार्थना कुछ भी नहीं हो सकते। ध्यान के लिए एक मात्र लक्ष्य सतत पुरुषार्थ करते रहने से, ध्यान के आरंभ से पूर्व में की गई प्रार्थना से 'कृपागंगा' अपनी अकल शक्ति से श्रेयार्थी को सहायक होने लगती है। श्रेयार्थी को पुरुषार्थ और कृपा दोनों का सहज-सहज अनुभव होने लगता है। ऐसा अनुभव साधना के अभ्यास में वेग लाने के लिए रुचि, उत्साह, उमंग और तत्परता को बढ़ाता है।

जो तत्परता और उमंग बढ़ती है, उसका उपयोग वह ध्यान से उत्पन्न होने- वाले फल प्राप्त करने की वृत्ति बढ़ाने में न जाय, इसका श्रेयार्थी को विशेष ध्यान रखना है। ध्यान के अन्तर्गत मन के विचार, बुद्धि के तर्क-वितर्क, युक्ति-प्रयुक्ति से आकुल-व्याकुल न हों। ध्यान के दौरान बुद्धि की युक्ति-प्रयुक्तियाँ तो वृत्तिओं के सुकोमल, सुंदर और मनपसंद भोगों को भी तैयार करती हैं। अतएव ध्यान के दौरान 'ध्याता' तो मात्र उसके 'ध्येय' को ही जानता है, अंदर से जो कुछ भी उभरता है वह मन, बुद्धि और प्राण की शुद्धि के लिए होती प्रक्रिया का परिमाम है। अच्छा और बुरा—ऐसे भेद किये बिना, पसंद-नापसंद को बीच में लाये बिना स्वयं को अपराधी या अधम माने बिना यह सब तटस्थ भाव से 'देखते रहें' की प्रक्रिया रखें। इस तरह देखते रहने की प्रक्रिया से तटस्थता आती है। इसमें एक प्रकार की शक्ति पैदा होती है। यह सब 'देखनेवाला' यों तो 'आत्मा' है। पर उसमें पूर्ण गुणधर्मवाला आत्मा नहीं है। जब कि 'तटस्थता' संपूर्ण एकाग्रतावाली और केन्द्रितता के लक्षणवाली बने और ध्यान के समय के अलावा समयावधि दौरान ऐसी तटस्थता का उपयोग बना करे यह बहुत आवश्यक है। हमारे आसपास घटती घटनाएँ तथा इससे स्वयं के अंतर में उत्पन्न प्रतिक्रियाओं के प्रति हमारे से कितना तटस्थ रहा जा सकता है, इतना ही श्रेयार्थी को जाँचते रहना है।

d:\pm5\mar
dhyey_dhya
(2nd

पूज्य श्रीमोटा द्वारा बतलाई गई यह पद्धति ध्यान के अभ्यास के लिए अत्यन्त स्पष्ट और सीमाचिह्न दर्शक है। इस पुस्तक में अनेक बार श्रेयार्थी को इस बारे में समझाया है तथा इसमें आनेवाले विघ्नों के प्रति भी सावधान किया है।

इस साधन का उपयोग करनेवाला श्रेयार्थी श्वासोच्छ्वास पर दृष्टि स्थिर रखने की पद्धति अपनाएगा तो ध्यान पद्धतियों में से यह पद्धति धीरे-धीरे सहज हो जाएगी। श्वासोच्छ्वास निराकार है। श्वासोच्छ्वास अनुभव किया जा सकता है, परन्तु दीखता नहीं। उसका लेना-छोड़ना सहज है। इसमें प्रयत्न शक्य नहीं है। इसी प्रकार श्वासोच्छ्वास द्वारा होनेवाली क्रिया के लिए अहंकार होना भी संभव नहीं है। श्रेयार्थी को इस प्रकार के ध्यान के लिए श्वास-उच्छ्वास की अवधि के लिए या उसे रोकने के लिए प्रयत्न नहीं करना है। श्वासोच्छ्वास सहज रूप से चल रहा है, इस ओर दृष्टि स्थिर करते हुए पुरुषार्थ होते रहने से कृपा शक्ति का अपने आप सहयोग होने लगता है और नियमित लंबे समय के अभ्यास के बाद श्वासोच्छ्वास तथा नाड़ी का वेग शांत होता हुआ अनुभव होता है। मन धीरे-धीरे शान्त होता जा रहा है, इसका यह लक्षण है।

मन शान्त होने से स्थिर होगा और एकाग्रता का अनुभव होगा, ऐसी एकाग्रतावाला मन 'चुप' होने की स्थिति में आएगा। पूज्य श्रीमोटा ने मन को चुप करने की अवस्था का आदर्श बतलाया है। ध्यान के साथ श्रेयार्थी के लिए मौन एकान्त का सेवन बहुत आवश्यक है, क्योंकि यह बहुत ही सहायभूत होता है। हमारी दृष्टि और वाणी द्वारा बहुत ही मूल्यवान ओज व्यर्थ हो जाता है। जितने अनुपात में इस हानि को रोक सकें उतने ही अनुपात में श्रेयार्थी को अपने साधनाभ्यास में गति अनुभव होगी।

पूज्य श्रीमोटा ने 'साधनामर्म' में संक्षिप्त जीवन ध्येय बतलाया है। 'प्रभु चिंतवन के अलावा अन्य सभी आग्रहों को छोड़ दो। नम्रता रखो, शून्य होने का ध्येय रखो।' (साधनामर्म नं. ५) इसमें प्रभु ही मात्र चिंतनीय हैं। सब कुछ उसकी सत्ता अधीन हैं यानी प्रभु के 'होने से' ही सब चल रहा है और घटित हो रहा है। कोई भी कहीं किसी का कर्ता नहीं है। ऐसी प्रभु चिंतवन की निरन्तरता होने से अन्य आग्रह अपनेआप निरस्त होते जाएँगें। आग्रह अहंकार का लक्षण है। मन-बुद्धि अहंकार करते हैं। ऐसे आग्रह (हठाग्रह, पूर्वाग्रह, मताग्रह और सत्याग्रह आदि) विदा होते-होते अहंकार का बल घटने से मन बुद्धि की शुद्धि होती है। किन्तु अहंकार तो अनंत मस्तकवाला है। इसलिए जीवन में—संसार में अत्यन्त नम्रता रखने का अभ्यास करना चाहिए। नम्र होना अर्थात् दब जाना या निर्बल हो जाना, ऐसा अर्थ श्रेयार्थी को नहीं करना चाहिए। किन्तु सर्वशक्तिमान मात्र प्रभु ही है ऐसे आंतरिक दृढ़तावाले भाव से प्राकृतिक विकृत अवरोधों के सामने नम्रता के साथ अड़िग रहना हैं। भगवान की जय निश्चित है ऐसी श्रद्धा दृढ़ और गहरी उतारनी है। 'स्वयं' या 'स्वयं का'

ngaleshwar\
an_hindi.pmd
Proof)

भाव जैसा कुछ नहीं है। इसलिए मान, अपमान, स्वमान का भी समर्पण करते–करते शून्य हो जाने का ध्येय रखना है।

यदि इस प्रकार की जागृतिपूर्वक की साधना न हो पाई तो ध्यान जैसे साधन से भयंकर अहंकार स्वयं का नया रूप धारण कर श्रेयार्थी को भीषण गहरी खाई में धकेल देगा। फलस्वरूप अकल्पनीय चक्र में फँस जाएगा। इससे बचने के लिए सर्व प्रथम तो साधना की गुप्तता की अनिवार्यता के विषय में पूज्य श्रीमोटा ने समजाया है। साधना की गुप्तता बनाये रखने के लिए परिश्रम करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि श्रेयार्थी को तो उसे दैनिक आहार-विहार जितना सहज और साहजिक मानना चाहिए। उठना-बैठ़ना-खाना आदि क्रियाओं के बारे में हम दूसरे के समक्ष बाते नहीं करते उसी प्रकार साधना के विषय में साहजिक गुप्तता रखनी चाहिए। इसमें समान ध्येयवाले—समानार्थी—श्रेयार्थी के साथ का विनिमय अपवाद रूप है।

श्रेयार्थी नियमित दिन में दो से तीन घण्टे भक्तिभाव से ध्यान जैसे साधन का अभ्यास करे उसके बाद ही उसे रुचि, तल्लीनता, गाढ़ता आदि का अनुभव होता है। अतएव किसी भी साधन को स्वीकार करने के बाद उसकी पद्धतिनुसार लम्बी अवधि के अभ्यास तक अटूट धीरज के गुण श्रेयार्थी को जीवित रखने हैं। अन्यथा भ्रमित होने में देर नहीं लगेगी। ध्यान के दौरान दृश्य, प्रकाश, ध्वनि के विषय में पूर्वधारणा नहीं रखना चाहि। ध्यान के अभ्यास से प्राप्त होनेवाले अनुभवों से रुकना नहीं है। इसके लिए तटस्थता का भाव रखना है।

लम्बे समय के ध्यान के अभ्यास से क्या-क्या अनुभव होता है, उसका विवरण पूज्य श्रीमोटा ने दिया है। वह श्रेयार्थी को अपने आप को जाँचने में काम आयेगा। आध्यात्मिक जीवन के रहस्य, तथ्य, मर्म, हार्द आदि पर नया प्रकाश पड़ता है और बुद्धि में अनोखा प्रकाश अनुभव होता है। ऐसे बुद्धि प्रकाश का प्रदर्शन करने का लोभ और मोह श्रेयार्थी को पछाड़नेवाला होता है। अतः आसन-स्थिरता से प्राप्त संयम का उपयोग करने के विषय में पूज्य श्रीमोटा ने सूचित किया है। श्रेयार्थी की उत्तरोत्तर प्रकाशित होती हुई समझ का उपयोग स्वयं के व्यवहार में प्रतिष्ठित करते रहें। श्रेयार्थी की परिवर्तित दृष्टि, वृत्ति और रूख व्यवहार में कितने प्रमाण में अपनाया गया है, उसे ध्यान में रखना, वह भी ध्यान के परिणाम का लक्षण है।

पूज्य श्रीमोटा ने अपनी साधना के दौरान ध्यान के सभी प्रकारों को सिद्ध कर डाला था। इस वास्तविकता का उन्होंने अपनी साधनाकथा में वर्णन किया है। इसमें अनुभवदशा प्राप्त होने के पश्चात ध्यान के दो प्रयोग प्रसिद्ध है : (१) बनारस में नौका विहार दौरान सोने के गहनों का विचार किया कि चोरी करनेवाला व्यक्ति ध्यान में दिखा और गहनें वापस लौटा गया। (२) अपनी माँ सूरजबा के अवसान के बाद उनका जन्म

d:\pm5\mar
dhyey_dhya
(2nd

कन्या रूप में काशी में कहाँ हुआ उसकी जानकारी की क्रिया को ध्यान के प्रकार में गिना जा सकता है ।

यह दोनों घटनाएँ १९४०-४१ दौरान हुई। उसके पश्चात के समय दौरान तो (१९७६ तक) आपश्री को खुली खाँखों से ध्यान और समाधि की दशा बनी रहती थी।

यह अभ्यास की पुस्तिका मात्र पढ़ने के लिए नहीं है, किन्तु इस साधना के विषय में स्पष्टता प्राप्त कर तदनुसार अभ्यास करने के लिए है। एक श्रेयार्थी ने पूज्य श्रीमोटा ने ध्यान के विषय में जो लिखा है, उसी पद्धति से अभ्यास किया है। इससे उसके जीवन में कुछ परिवर्तनों कि अनुभूति हुई है। ऐसे श्रेयार्थी की प्रतीति लिखनेवाले को अनुभूत होने के कारण इस पुस्तक की प्रस्तावना इतने विस्तार से लिखी गयी है। यदि कोई भी श्रेयार्थी यह साधन स्वयं के स्वभाव के अनुरूप हो, ऐसा स्वीकार करता हो तो इस पुस्तक में निर्देशित पद्धति का उपयोग कर अनुशरण के लिए प्रेरित होगा और यदि ऐसा करने लगा तो इस अभ्यासपोथी का प्रकाशन सार्थक होगा ।

१९४०-४१ के दौरान लिखे पूज्य श्रीमोटा के इन पत्रों का ऐसा संकलन साठ वर्षों बाद हो रहा है। 'जीवनदर्शन', 'जीवनसंशोधन' और 'जीवन पगरण' पुस्तकों में से यह संकलन हुआ है। इन संदर्भग्रंथों के संक्षिप्त नाम उन परिच्छेदों के अंत में अंकित है। फिर इन साधनों द्वारा जो प्रतीति हुई है उसकी भूमिका पर इसका संकलन-प्रकाशन हुआ है। यह शुभ संकेत है। इससे किसी श्रेयार्थी को यह लेख आत्मानुभव की ओर आगे बढ़ने के लिए पथदर्शक और अपनी स्थिति को समझने में प्रकाश स्तंभ रूप सिद्ध होगा, ऐसी श्रद्धा है ।

– रमेश म. भट्ट

'संतस्मृति', १, स्टेट बैंक ओफ इन्डिया ओफिसर्स सोसायटी,
नारायणनगर, पालड़ी, अहमदाबाद-३८० ००७.
फोन : २६६१४८२९, २६६११३४३

ngaleshwar\
n_hindi.pmd
Proof)

निवेदन

पू. श्रीमोटा का जीवनविकासक साहित्य प्रधानतः गुजराती भाषा मे हैं। पिछले कुछ वर्षों से हरिःॐ आश्रम, सूरत–नड़ियाद के मौनार्थीओं की माँग आयी है कि पू. श्रीमोटा के कल्याणकारी साहित्य का लाभ अन्य भाषी मुमुक्षुओं को भी मिलें। इस हेतु का महत्त्व देते हुए 'ध्येय और ध्यान' का हिन्दी भाषा में प्रकाशन किया गया है।

पू. श्रीमोटा ने गुरुकृपा से भगवत्प्राप्ति का ध्येय बनाया उसकी प्राप्ति में 'ध्यान' भी एक साधन था। 'ध्यान' के विषय में आपश्री के अनुभवज्ञान के कछ अंश डॉ. रमेशभाई भट्ट (Ph.D.) ने गुजराती में संकलित किए थे, उसे डॉ. कविता शर्मा 'जदली' (Ph.D.) ने पू. श्रीमोटा की भाषा रचना की शैली को बनाये रखते सरल, मौलिक हिन्दी में अनुवादित किया है। यह बहुत प्रसंशनीय है, उसके लिए धन्यवाद के पात्र है।

इस प्रकाशन का संपूर्ण मुद्रणकार्य मुखपृष्ठ सहित श्री श्रेयसभाई पंड्या, मे. साहित्य मुद्रणालय प्रा. लि., अहमदाबाद ने पू. श्रीमोटा के प्रति अपना भक्तिभाव व्यक्त करते हुए बिलकुल निःशुल्क किया है, उसके लिए उनका बहुत बहुत आभार मानते हुए उनके श्रेय के लिए पू. श्रीमोटा को प्रार्थना करते है।

आशा है कि मुमुक्षुजनों इस प्रकाशन से लाभ लेकर जीवनविकास के पथ पर आगे बढ़कर अपना ध्येय प्राप्त करें।

— ट्रस्टी मंडल,
हरिःॐ आश्रम, सुरत

दि. ३१-१-२००९
वसंतपंचमी
(पू. श्रीमोटा दीक्षादिन)

d:\pm5\mar
dhyey_dhya
(2nd

॥ हरिःॐ ॥

खंड : १

ध्येय

ngaleshwar\
an_hindi.pmd

Proof)

स्मरण करते करते होना एक ध्यान ।
स्मरण करते करते होना एक म्यान ॥
स्मरण करते करते होना हेल मेल ।
स्मरण करते करते होना एक मेल ॥

– मोटा

(‘मनने’, आ. १, पृ. ३५)

(गजल)

मिले जो जो सभी उनकी भूमिका निज में है रही,
स्वीकार के उसे बर्ते जो हृदय ज्ञानी बनता है वह।

प्रभु के भावानुसार जीवन अनुरूप प्रसंगों को,
पिरोये जो हृदय में, पूरा योगी वही बनता है।

कैसे भी भले बनते, जीवन के ध्येय कर्म से,
पूरा आकार दे भाव से, हृदय के ध्यानी सच्चे हैं।

– मोटा

(**'प्रणामप्रलाप'**, आ. ३, पृ. २६)

d:\pm5\mar
dhyey_dhya
(2nd I

(१) मानव-जीवन का श्रेष्ठ ध्येय

हमारे जीवन का—मनुष्यमात्र के जीवन का ध्येय श्रीभगवान के भाव का अनुभव कर, उसमें तन्मय हों, उसका यंत्र बन जाय और फिर वह जैसे चलाये वैसे चल कर, उसे भी हृदय से अनुभव करें, यही ध्येय होना चाहिए, ऐसा मुझे खुद को तो लगता है । प्रत्येक मनुष्य को अपना जीवन ध्येय निश्चित कर लेना चाहिए । निश्चित करने के पश्चात अपनी सारी शक्ति उसके पीछे समर्पित कर देनी चाहिए । सतत पुरुषार्थ, वही लगन, वही रटन, वही सर्वस्व, उसकी धुन पैदा करनी होती है । तुम्हारी वृत्ति या प्रकृति के अनुसार कौन-सा मार्ग तुम्हें पसंद है, वह तुम्हें निश्चित कर लेना होता है । **(‘जीवनपगरण’, पृ. ७)**

एक बार हमें अपने जीवन का मार्ग निश्चित कर लेना चाहिए । जीवन का मर्म और अर्थ किसमें है उसे हृदय से-हृदय के मंथन से—एक बार निश्चित कर लेना चाहिए और एक निश्चित होने पर, फिर उसीके अनुसार हमारे भाव, व्यवहार और पुरुषार्थ रहने चाहिए । **(‘जीवनपगरण’, पृ. ११)**

ngaleshwar\
an_hindi.pmd
Proof)

अभी तुमने जो जप यज्ञ प्रारंभ किया है उसे यदि रोक सको तो वैसा करने की तुम्हें मेरी सलाह है, क्योंकि अभी तो हो सके उतना सारा समय जाग्रत रहकर मन की गति को पहचानने का प्रयत्न किया करें तथा तद्पश्चात जीवन के रूख और ध्यान विषयक स्पष्टता हृदय से करते रहें । उस विषय में लगातार चिंतन किया करें और मन के साथ उस विषय का पूरा समजौता प्राप्त कर लें । उसमें जो भी शंका उठे उसका भी प्रेमभाव से समाधान कर लें । जीवन का अर्थ और रहस्य किसमें हैं उसे भी स्पष्ट रूप से समझ लें । सभी प्रकार से विचार कर, लाभ-हानि, हार-जीत (इसमें हानि या पराजय जैसा है ही नहीं) सोचपूर्वक हमें कदम उठाना चाहिए । जप करने लगोगे तो आगे सोचने के लिए जो तटस्थ भूमिका चाहिए वह नहीं रह पाएगी । इसलिए मेरी तो हार्दिक इच्छा है कि अभी तुम जीवन के ध्येय के विषय में ही चिंतन करते रहो और उसी का मनन-मंथन मन में किया करो । उसका मनन करते हुए मन में उठनेवाले, सभी वेगों को

निहारा करो और निरीक्षण करते करते जो देख पाये उसका गहन पृथक्ककरण किया करो और उसमें से सार निकालना अभी तो सीखना होगा ।

मन हमें अपने उपर चढ़े हुए आवरणों को नहीं हठाने देता । मन की सीमा से उपर उठकर उसके अनेक प्रकार के आवरणों को सुलझाकर, हमें उसके सही स्वरूप को पहचानना होता है । इसमें तो इतनी उलझनें होती हैं कि यह तो प्रत्यक्ष अनुभव करोगे तभी समझ आएगा । यदि कोई कहे, 'इसमें तो कुछ भी उलझनें नहीं है और मनोमंथन भी नहीं है ।' तो इससे यह सिद्ध होगा, 'उसने जितना चाहिए उतना पर्याप्त पुरुषार्थ उस दिशा में करने योग्य चिंतन निष्ठापूर्वक नहीं किया है ।' अन्यथा मन-हृदय के बिलोने की क्रिया में कुछ न कुछ तो उपर तैरना ही चाहिए । उसे हम सतत जाग्रत रहकर जो-जो भी प्रतिकूल हो, उसे श्रीप्रभु के चरण कमल में समर्पित कर दें और जो भी सत्य हो अर्थात् जीवन को रचनात्मक कार्यों में प्रेरित कर, उसका साधना में उपयोग करें, उसे भी समर्पण कर हमें तो मात्र खाली ही रहना है । (**'जीवनपगरण'**, पृ. १३-१४)

हमें इस विषय में जो कुछ भी करना है, उसे अत्यन्त नम्र, दीन-भाव से कोई जान न पावें—ऐसे करना है । उसे किसी को बतलाने का प्रयोजन भी क्या है? हम खाते हैं, श्वास लेते हैं, सोते हैं आदि नैसर्गिक क्रियाओं को करते है, उनके विषय में थोड़े ही दूसरों के सामने उल्लेख करते हैं? इसी प्रकार जीवनमार्ग के साधन का स्वाभाविक रूप से, सहज रूप से उपयोग किया करना है । ऐसा कुछ करते हैं उसकी चेतना हो या रहे वह भी गलत है और उसका भान होना या रहना वह तो उल्टे जीवन की प्रगति में रुकावट डालनेवाला है ।

तथापि कहीं भी अंधश्रद्धा नहीं रखनी है । जो कुछ भी करें उसे सोच-समझकर—ज्ञानपूर्वक करना है । उसे भी प्रभुप्रीत्यर्थ और उसी की कृपा करवा रही है, ऐसा हृदय से भाव रखना है । यानी पुरुषार्थ करने पर भी मानो कि करते ही नहीं है । जो कुछ भी करें, विचारें, आचरण में लावें उन सभी को श्रीप्रभु को ही समर्पित कर देना होता है और खाली ही रहा करना है ।

d:\pm5\mar
dhyey_dhya
(2nd

श्रद्धा, विश्वास और प्रेम यह हमारे जीवन के पाथेय है । मात्र इतनी ही पूँजी हमें अपने पास रखनी है । अन्य सभी खोने की तैयारी करनी है । इसमें कूदने सम्मिलित होने से पहले अपने मन को अच्छी तरह से जांच लेना है और उस विषय की पूरी तैयारी कर लेनी है ।

('जीवनपगरण', पृ. १८-१९)

(२) आग्रह

तुम्हें अनेक बार आग्रह न रखने के लिए लिखा है । किन्तु आग्रह कहाँ रखना और कहाँ न रखना, यह विवेक समझने जैसा है । हम जिस साधना को करते हैं, उस पर तो चीटिओं की तरह लगे रहना है । उसके लिए आग्रह जितना अधिक दृढ़ यथायोग्य रख सकते हैं, उतना अधिक रखना है । उसके आग्रह से जो काम होता जाएगा उससे निर्माण होगा और उससे रुचि उत्पन्न होगी । जिस प्रकार स्वर्ण रस को ढालने के लिए मजबूत नाल की आवश्यकता होती है, वैसे ही हमें भी श्रीभगवान के रस का आनंद लेने के लिए योग्य नाल बनना होगा । ऐसी स्थिति में अपना आग्रह नहीं चल सकता हैं, क्योंक स्वर्ण नाल और इस नाल में अंतर है । जैसी नाल हमे बने होंगे वैसा आकार होगा ही ऐसा हमारे विषय में नहीं होगा, क्योंकि जो कुछ भी आनंद रूप में तैयार हुआ होगा वह रस तो ऐसा है कि उसके अनुरूप भूमिका हम यदि बना न पाये तो जो कुछ थोड़ा बहुत आनंद उत्पन्न हुआ होगा वह भी अपने लायक receptive पात्र-बर्तन तैयार न होने के कारण नष्ट हो जाएगा ।

इसीलिए हमें एक साथ दो प्रकार की प्रक्रियाओं से गुजरना है । एक तो हम जो कुछ भी करते रहें उसमें उत्तरोत्तर प्रेम, रस, भावना की वृद्धि किया करें और उसमें दृढ़ होते जाँए और दूसरा, उसकी भूमिका रचने के लिए अधिक से अधिक हमें अंतर्मुख होना होगा । यह भी पहले जितना ही आवश्यक है । हमारा मन जो खेल खेल रहा है वह सब देखना होगा, ठीक से निहार निहारकर समझना होगा और मन को पूरे संयम में लाना होगा । मन हमारा सरदार बन बैठा है । मन और इन्द्रियों के वश होकर हम काम करते रहते हैं । उसमें कारणभूत वे हैं, हम नहीं । हम उस तरह

ngaleshwar\
an_hindi.pmd
Proof)

से अभ्यस्त हैं उसके बदले यमुना-गति उल्टी करनी पड़ेगी । यद्यपि मन और इन्द्रियों की आदतों के हम गुलाम बने हुए है, तो भी वे इतने लुच्चे हैं कि हम गुलाम बने हैं उसकी चेतना भी हमें नहीं होने देते । कितनों को ही इसकी चेतना होती है तो उसका सामना करने की क्षमता नहीं हो पाती । यह बल हमारी साधना से प्राप्त होता है । उस बल का उपयोग दुबारा इसमें (अंतर्मुख होने तथा श्रद्धा, प्रेम आदि की वृद्धि में) सतत करते रहना है । यदि ऐसा न करें तो वह इकठ्ठा हुआ बल गर्मियों के बादलों की तरह बिखर जाता है और हम थे वैसे के वैसे ही खाली हाथ मलते रह जाते हैं । उल्टा मन, इन्द्रियों आदि अपने पर चढ़ बैठते हैं । इसलिए हमें मिले हुए बल का उपयोग अंतर्मुख होने के लिए लगातार उपयोग करते रहना है ।

यह एक बड़े से बड़ी चाबी है । हमारे यहाँ जो गुरु की प्रथा है वह इसलिए है कि ऐसी चाबी बतलाते रहते हैं । यदि हम स्पष्ट रूप से अंदर के खेल नहीं समझते रहेंगे तो और उससे भी पर होने का सतत प्रयत्न नहीं हुआ तो हमारा किया कराया कभी फलित नहीं होगा । तब प्रश्न उठता है कि जो बेचारा ग्रामीण हो, अनपढ़ और अज्ञानी हो और जिसे इस प्रकार कोई जानकारी नहीं होती है, यदि वह भगवान के नाम का रटन लिया कर रहा हो और भजनकीर्तन भावपूर्वक करता हो तो ऐसी समझ न होने से क्या उसका बल नष्ट हो जाएगा? नहीं, ऐसा नहीं होता, क्योंकि एक तो ऐसा ग्रामीण सरल होता है । हमारे जितनी complexes ग्रंथियाँ या उलझन और टेढ़ी-मेढ़ी बुद्धि की वक्रता उसे नहीं होती हैं । साथ ही उसमें सरलता विशेषरूप से होने से तथा भावप्रधान होने से एवं अपने आप में ही अधिक रचापचा होने से उसमें बल अथवा गति का संग्रह अधिक होता है । वही बल संग्रह उसकी समझ के द्वार खोल देता है । हम में भी ऐसा होता है किन्तु जो कुछ भी थोड़ा-थोड़ा बल इकठ्ठा होता रहता है, उसका उपयोग यदि हम इसतरह से करते रहेंगे तो अच्छी तरह से परहेज पालने से जैसे दवा का प्रभाव एकदम होता है, वैसे ही उपरोक्त विधि अनुसार बल की असर उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है और पुरुषार्थ में रत होते जाते हैं तथा उसमें मंदता आने की संभावना कम होती जाती है ।

(**'जीवनपगरण'**, पृ. १८५-१८७)

d:\pm5\mar
dhyey_dhya
(2nd

हमें कहीं किसी में भी आग्रही वृत्ति नहीं रखनी है, विचार में भी नहीं और मन में भी नहीं । कोई कहे कि ऐसा है तो भले वैसा हो, कोई कहे कि ऐसा नहीं तो भले वैसा न हो । जिस काम को हम समझ चुके हैं, उसमें तो मर मिटने की तमन्ना प्रकट करनी है और रखनी है । किस तरह से जीवनविकास का कर्म आगे बढ़े उस दिशा में समग्र और संपूर्ण एकाग्रता केन्द्रित करने का लक्ष्य रखना है । ध्येय की भावनानुसार जो कुछ उद्‌भव हो, सूझे उसी के अनुसार जीवन में दृढ़तापूर्वक आचरण करने का ठोस मनोबल रखना है । उसमें आनेवाले विघ्नों को दूर कर, काट डालने हैं । वहाँ कुछ भी बाकी या ढीला नहीं रखना है । जीवन ध्येय के लिए आग्रह अर्थात् निष्ठापूर्वक एकाग्रता और केन्द्रित जीवन वहन, ऐसा अर्थ 'आग्रह' का करना है । शक्ति और बुद्धि के तथा अंतर के करणों को भी 'बहुशाखा' और 'अनंत' होने और बिखरने नहीं देना है । उन्हें दिशा दे देकर एक ही पट में बहते हो जाँय यही हमारा जीवन कार्य है । इसके लिए आग्रह तो अवश्य रखना है किन्तु उसके अलावा किसी में भी आग्रह नहीं रखना है । यदि कोई बुद्धिशाली कहेगा कि, 'यह तो बिना पेंदे का लोटा है । इसमें कोई भी सिद्धान्त नहीं है । ऐसा मनुष्य किस काम का'! ऐसा कोई कहे तो उसे कहने दो । हमें तो उस एक के अलावा अन्य सभी बातों में अनाग्रह रखना है । बुद्धिवाले और स्वयं को सिद्धान्तवादी माननेवाले मनुष्यों को यह गोली निगलनी कठिन है, किन्तु इस गोली को निगलने से सचमुच तो शक्ति बढ़ती है, ऐसा अनुभव इस मार्ग के प्रत्येक यात्री को हुआ है । दूसरों का प्रेम प्राप्त होता है और उससे उस शक्ति का लाभ भी हमें प्राप्त होता है वह अलग से ।

एक के अलावा अन्य सभी बातों में निराग्रह का आग्रह (?) क्यों रखता हूँ? क्योंकि एक तो साधना के क्षेत्र में 'आग्रह' का अर्थ अलग है: (आगे बताये अनुसार) ध्येय में निष्ठापूर्वक की एकाग्रता और केन्द्रितता तथा बीच में आनेवाले विघ्नों को पार करने की तत्परता । दूसरा, अन्य विषयों में—जैसे कि राजनीति, समाजसेवा, तत्त्वज्ञान का वाद भी—उन सब में आग्रह यानी एक प्रकार का सूक्ष्म 'मैं'पना, फिर भले ही वह व्यापक समज के प्रकार का हो ! धर्ममें भी इस प्रकार का आग्रह होता है । हमारा धर्म ही सच्चा है (अथवा धार्मिक या आध्यात्मिक मान्यताएँ) और उसके अनुसार

ngaleshwar\
an_hindi.pmd
Proof)

दूसरे जीयें तो उनका कल्याण हो या जल्दी या अधिक कल्याण होगा ऐसा मताग्रह रहता है । इसके अलावा समाज रचना, अर्थनीति या राजनीति में अपनी-अपनी समझ अनुसार दृढ़ आग्रह देखने को मिलता है और उसमें अहंयुक्त वृत्ति प्राधान्य भी रहती हैं । इससे एक-दूसरे के वाद के प्रति और एक-दूसरे देश के प्रति गुप्त और प्रत्यक्ष संघर्ष चलते रहते हैं । ऐसी अनेक प्रकार की निश्चित आकार में ढली दृढ़ मान्यताएँ अनेक क्षेत्रों में परिवर्तित हैं ।

जीवन-साधना अर्थात् केवल निर्बन्ध-रूप में सर्वान्तर्यामी और सर्वज्ञ हमें दिशा निर्देश करनेवाली ज्ञानभक्तिपूर्वक की जीवन्त चेतनात्मक सुकोमलता-वाली आंतरिक प्रक्रिया । उसमें विशुद्ध अमिश्रता प्रकट हो जाय यानी प्रकृति के सत्त्व, रजस् और तमस् ये तीनों गुणों से प्रेरित जीवन वहन होने के बदले केवल आत्मा या पुरुष या ईश्वर से प्रेरित जीवन वहन के बदले केवल आत्मा या पुरुष या ईश्वर से प्रेरित जीवन बन जाय । संपूर्ण रूप से ज्ञानभक्तिपूर्वक उनके साधन या यंत्र हो जाँए, ऐसा जीवन जियें, तद्रूप हो जाँय, इसका नाम है—साधना या सिद्धि । इसमें अंतिम सत्य यही है कि यही होगा, ऐसी समझ का कोई स्थान नहीं है । यों इसमें किसी वाद का खंडन या मंडन नहीं होता है, जब कि किसी भी प्रकार की फिलोसफी में तो ऐसा ही होता है । इस दृष्टि से देखें तो जहाँ फिलोसफी (उसके प्रचलति अर्थ में) पूरी होती है, वहीं से सच्ची साधना का श्रीगणेश होता है ।

इतना ही नहीं, तुम लिखते हो कि (चर्चा चल रही थी उस दौरान) अंतर में जप प्रक्रिया चल रही थी । अब, ऐसा होना संभव नहीं है । यदि वस्तुतः ऐसा होता तो इतनी रुचि तुम बिलकुल भी नहीं ले सके होते और तुमसे तब उसमें इतनी आग्रहवृत्ति रही नहीं होती ।

(**'जीवनसंशोधन'**, पृ. १२९-१३१)

(३) आत्मविश्वास

किसी भी काम को लो तो श्रद्धापूर्वक लेना चाहिए । उस काम को प्रेम से पूर्ण रूप से सम्पन्न कर पाऊँगा, ऐसे ठोस आत्मविश्वास से लेना चाहिए । साधना में निरन्तर सभानतापूर्वक का आत्मविश्वास का काम है ।

d:\pm5\mar
dhyey_dhya
(2nd

जिसे स्वयं पर आत्मविश्वास नहीं है, वह संसार में कहीं भी कुछ भी नहीं कर सकता । दृढ़ आत्मविश्वास के बिना किया हुआ कर्म अर्थहीन होता है । आत्मविश्वास बिना साहस, हिंमत, बल, पराक्रम, धीरज आदि गुण प्रगट नहीं हो पाते । किसी भी कर्म को करने के लिए आत्मविश्वास बहुत बड़ा आवश्यक साधन है । जिसे दृढ़ आत्मविश्वास होता है, 'यह कर्म तो प्रभुकृपा से मेरे द्वारा अवश्य हो सकेगा' उसे कर्म के आरपार निकल जाने की हृदय में उमंग जागती है । कर्म में आ पड़नेवाली कठिनाइयाँ और उलझनों से तो प्रेम से और सरलता से हल निकालता रहता है । वह कहीं रूकना तो जानता ही नहीं है । उसकी दृष्टि कर्म में एकाग्र और केन्द्रित हुई होती है और कर्म के उस पार भी आरपार निकल जाती है । साधना में आत्मविश्वास —यह तो एक बड़े से बड़ा हथियार है ।

आज देश में और दुनिया में जो वातावरण बना हुआ है, वह इन वादों के झगड़ों का परिणाम है । हम सभी ने संपूर्ण श्रद्धा रखे बिना आज तक सत्याग्रह में जो काम किए (मन में अनेक प्रकार के रागद्वेष होने से) उनके परिणाम अभी देश भुगत रहा है । बिगड़े हुए कर्म को हम सविशेष परिश्रम से सुधार सकते हैं परन्तु यह बात तो यहाँ अप्रस्तुत है । तुम स्वयं लिखते हो कि पूज्य गाँधीजी के कार्यक्रम में तुम्हें पहले से ही संपूर्ण सौ प्रतिशत श्रद्धा नहीं थी, अर्थात् ऐसी अश्रद्धा या दूसरी श्रद्धा के कारण तुम पूर्णतः फलीभूत न हो पाये । ऐसी अश्रद्धा के परिणाम स्वरूप हममें संपूर्ण आत्मविश्वास न आ पाया तो बेहत्तर है कि इस प्रकार किसी भी कर्म का आरंभ न हो । श्रद्धा के बिना आत्मविश्वास भी नहीं आ सकता, तो फिर आंतरिक बल का तो प्रश्न ही खड़ा नहीं होता ! जिस किसी को स्वयं में दृढ़ विश्वास पैदा नहीं होता, वह किसी में भी सफलता प्राप्त नहीं कर सकता । अतएव ऐसी साधना के कर्म में तो श्रद्धा की विशेष रूप से परमावश्यकता है । यह जिनमें न आ पा रही हो उनके लिए यह मार्ग नहीं है ।

('जीवनसंशोधन', पृ. १३२-१३३)

इसके साथ कुछ मुद्दे लिख भेजे हैं :

(१) प्रत्येक कर्म उत्साह से, प्रेम से करें । मन के संकोच के साथ न करें ।

ngaleshwar\
an_hindi.pmd
Proof)

(२) प्रत्येक कार्य, तथ्य, विचार, संबंध, व्यवहार आदि अमुक विशेष उद्देश्य से ही करें और वह उद्देश्य हमारे कार्य को वेग देनेवाला होना चाहिए । कुछ भी 'ऐसे ही' न करें । जो कुछ भी करें जागृति के साथ करें ।

(३) शुद्ध भाव रखें । स्थूल का विचार न करें ।

(४) अपने मूल कार्य में ही इतना अधिक आग्रह रखें कि जिससे दूसरे आग्रह छूट जाँय ।

(५) प्रत्येक प्रसंग, संबंध आदि के पीछे श्रीभगवान का उद्देश्य समझें और अपने कल्याण को उसमें देखें ।

हमारे आग्रह छूट जाने की धन्य पल लाने की बात जिस प्रकार हमारे हाथों है, उसी प्रकार वह श्रीभगवान पर भी आधार रखता है । हम यदि समर्पणभाव से और शरणभाव में रहकर तटस्थतापूर्वक अपना पुरुषार्थ किया करेंगे तो क्या-क्या हमें नहीं करना है, वह भी हमें सूझता जाएगा । इतना ही नहीं; जो सारे आग्रह हम में छिपे ढंग से रहते हैं और जब-जब ऊपर तैर आकर अपना जोर करते लगें; तब यदि हम साक्षीभाव और जागृति रख सकें तो 'यह हमारा आग्रह है' ऐसा विचार तुरन्त ही आयेगा और वही विचार हमें वैसा करने से अवश्य रोकेगा । जो भी नये परिणाम आनेवाले हैं, वे कोई ऊपर से, आकाश से टपकनेवाले नहीं हैं या किसी दूसरें में से आनेवाले नहीं है, किन्तु हम में से ही उद्भवित होंगे ।

('जीवनपगरण', पृ. १५८-१५९)

श्रीभगवान हमें किस-किस तरह से मदद करते रहते हैं और वे हमें मदद करने साक्षात् प्रत्यक्ष खड़े ही हैं ऐसे अनुभव जीवन में होने से हम में उनकी सुखद छाया दृढ़ होती है । उसकी असर किसी भी घटना से मिटती नहीं है और मिटाई नहीं जा सकती । वह तो चिरंजीव होकर ही रहती है । प्रभु दयालु हैं और सबसे बड़े हैं, यह मात्र कल्पना नहीं है किन्तु संत, भक्त और अनुभवी पुरुषों के अनुभव किये वचन हैं । श्रीभगवान तुम्हें ऐसे अनुभवों का नवनीत चखाये यही प्रार्थना है ।

('जीवनपगरण', पृ. १०४)

d:\pm5\mar
dhyey_dhya
(2nd I

(४) नम्रता और शरणभाव

जैसे-जैसे हम भगवान के भाव में डूबते जाए वैसे-वैसे हमें अधिक से अधिक नम्र होते रहना है । यदि हृदय में कहीं ऐसा भाव आये कि, 'अब मुझसे बहुत अच्छे ढंग से आगे बढ़ पाया हूँ ।' अथवा कोई हमारी प्रसंशा करे, उसमें अंतर में कहीं यदि रुचि लेने लगें, तो मर गये समझना । जिस प्रकार भस्म या मात्रा खा रहे हों किन्तु यदि कोई अनुपात के विपरीत ऐसा खा लिया तो उपचार विशेष के लिए खायी गई भस्म या मात्रा उल्टा प्रभाव देती है और हमें ही परेशान करती है, जैसे पूज्य गाँधीजी कहते हैं कि अहिंसा तो दोधारी तलवार है, वैसा इसलिए यदि उसे सही ढंग से उपयोग कर सकें तो गुणकारी रहेगी और यदि उसके पथ्य अनुसार उपयोग न किया गया तो उपयोग करनेवाले को हानि उठानी पड़ती है । वैसे ही इसमें हैं । यदि सहज अभिमान या 'मैं ठीक कर सकता हूँ', 'मेरा ठीक इसमें सही प्रवेश हो सका है' ऐसे किसी प्रकार के विचार आये और पोषित हुए तो किया कराया सब धूल में मिल जाएगा । इतना ख्याल रहे इसके लिए इतना उपोद्घात किया है । पहले भी लिखा था, पर फिर से दुबारा लिख रहा हूँ कि जिससे इसकी गंभीरता तुम ख्याल में रख सको । हमें तो बिल्कुल शून्यवत् हो जाना है । हमारा मैंपन जहाँ तक हम में रहेगा वहाँ तक भागवतभाव वहाँ उद्भव होनेवाला नहि है । हम जो कुछ भी करते हैं वह किया करते हैं ऐसा ख्याल भी आये बिना सहजभाव से, स्वाभाविक ढंग से हुए जाय—बने जाय—ऐसी आदत हमें डालनी चाहिए ।

इतना ही नहीं, जैसे-जैसे हम आगे बढ़ते जाँय वैसे-वैसे भागवत भाव का अपने में संपूर्णरूप से आविर्भाव करने के लिए बहुत तमन्ना और जिज्ञासा बढ़ानी ही चाहिए; किन्तु उसके साथ उसकी किसी प्रकार की चिंता या चांचल्य-अधीरता न करें । यदि तमन्ना या जिज्ञासा का उत्साह बढ़ता न जाय तो आगे नहीं बढ़ा जा सकता है । तमन्ना और जिज्ञासारूपी अपने पाल में उत्साह रूपी पवन जितने अनुपात में भरेगी उतने ही अनुपात में हमारी नौका जल्दी या धीरे चला करेगी । **('जीवनपगरण', पृ. १०४-१०५)**

ngaleshwar\
an_hindi.pmd
Proof)

प्रार्थना सुबह-शाम नियमित करनी चाहिए । दिन के दौरान भी यदि कुछ ऐसा लगे या अनुभव हो तब भी प्रार्थना करनी चाहिए । इससे 'हमें अच्छे विचार आएँगे, हमारे द्वारा किसी का भी अहित न होगा, हमारे द्वारा सदा अच्छा होगा ।' ऐसी भगवान से प्रार्थना करनी चाहिए ।

(**'जीवनपगरण'**, पृ. ७२)

हम साबरमती आश्रम में साथ में थे तब तुमने एक बार कहा था कि इस **जीव** द्वारा बतलायी गई साधना में तुम स्थिर हो गये हो और अब उसमें रत रहोगे और चलित न होओगे । परन्तु तभी तुम्हे प्रभुकृपा से सतत सावधान किया था कि प्रकृति से तुम चलित हो जाओगे, ऐसे हो । हमारी यह बातचीत याद है न ? ऐसे कुछ प्रसंगो से तुम्हें थोड़ा भी समझ में आया यह आनंद की बात है । बाकी इस **जीव** को तो अब उसके निमित्त उनके साधन बन जो कोई उनकी कृपा से संबंध में आये उसे उसमें रहे परम तत्त्व की चेतना जगाने का काम करना है ।

(**'जीवनसंशोधन'**, पृ. १२७)

आंतरिक शक्ति प्राप्त करे और बाद में श्रीभगवान के यंत्र बन जाय और तद्पश्चात् उसकी इस गूढ़ रहस्यमय रचना की लीला में हम उसके उद्देश्य के हथियार बनें और जिस उद्देश्य की पूर्ति के लिए श्रीभगवान की कृपा से हम सर्जित हुए हैं, उस उद्देश्य को प्रेमभक्ति से सिद्ध करें, परिपूर्ण किया करें, ऐसे जीवन का उद्देश्य भी हृदय में विचार किये करना है । जीवन हमेशा आदर्श का विशाल पहलू है । आदर्श में हम जैसे-जैसे भावना को पाने का प्रयत्न करें, वैसे-वैसे आदर्श का तादृश्यरूप अनुभव होता जाता है । संपूर्ण आदर्श एकसमान रूप से एक ही समय में पूरा का पूरा अनुभव किया जा सके इसकी संभावना बहुत कम है । प्रभुकृपा से आदर्श की झाँकी होती है और इस प्रकार के दर्शन से जीवन में उस के प्रति आकर्षण एकाग्रता की उत्कंठा से प्रकट होता है और उसके प्रति बहुत-सा आकर्षण हृदय में उत्पन्न हो यह सत्य बात है; और आदर्श इतना और ऐसा ही है । ऐसा प्रारंभ में हम स्वीकार करें किन्तु सही ढंग से तो उसका भी कहीं अन्त नहीं है ।

जब तुम ध्यान में बैठोगे, तब हम प्रेमभाव से साथ ही हैं । बहुत प्रेमभाव रखना । यह प्रेमभाव मेरे लिए नहीं माँगता हूँ । मैं तो श्रीभगवान

d:\pm5\mar
dhyey_dhya
(2nd

की कृपा से उनके भजन करते-करते और जीवन विकास की साधना करते-करते प्रभु की कृपा से प्रेम की एकाध-किरण जितना या एक छोटी तीली-सा प्रेम अवश्य प्राप्त किया है; इसलिए मैं तुम से दिल का जो प्रेमभाव माँगता हूँ उसका कारण यही है कि हमारे दिल में जिस प्रकार की और जिसके द्वारा सचमुच दिल में दिल से दिल की भावना पैदा हुई हो, उसके वचन की यथार्थता को हम योग्य रूप में स्वीकार कर पाएँगे और इसलिए मैं तुम से प्रेमभाव माँगता हूँ ।

ऐसे दिल का दिल में दिल से प्रेमभाव उत्पन्न हुए बिना सद्‌गुरु के जीवन विकास की साधना के भाव संस्कार को कभी हम पकड़ नहीं पाएँगें । उसके संस्कार चित्त में अवश्य पड़ेंगें ही; किन्तु उसका असली स्वरूप परिवर्तित हो जाएगा; क्योंकि हम अभी जीवदशावाले रहने के कारण उसकी भावना के संस्कार को उसकी यथार्थता के अनुपात में कभी भी स्वीकार कर सकें ऐसी संभावना हममें नहीं होती और शायद मानो कि हमारी बुद्धि स्वीकार कर ले तो वह स्वीकार करती है, वह भी मात्र ऊपरी तौर पर । हम किसी चेतना में निष्ठा प्राप्त मुक्तात्मा के संबंध में हों, तब जब तक उसके प्रति हमारे दिल में प्रेमभक्ति की ज्ञानयुक्त निष्ठा उत्पन्न नहीं होती है, तब तक हम उसे अपने ढंग से समझनेवाले हैं । उनके जीवन के ऐसे सचमुच घटित कितने ही प्रसंगों का हार्द और ऐसे घटित उन प्रसंगों पर से अनुभव होने पर सिद्ध हुए उसके इन्द्रियातीतपन कुछ देर हमें लगता है सही, थोड़ी देर हम में अहोभाव भी जगायेगा, परन्तु वह सब अपने आप पुनः उड़ जाएगा । इसलिए उन संस्कारो को हमारे जीवन में आचरणमूलक बनाने के लिए हमें ऐसे चेतन पुरुष द्वारा ज्ञान की भावना से और उद्देश्य पूर्ण ज्ञान की चेतना के साथ उनके प्रति प्रेमभक्तिवाले बन जाँय वह अति आवश्यक है । (**'जीवनदर्शन'**, पृ. २०-२१)

ngaleshwar\
an_hindi.pmd
Proof)

d:\pm5\mar
dhyey_dhya

(2nd I

॥ हरिःॐ ॥

खंड : २

ध्यान

ngaleshwar\
an_hindi.pmd
Proof)

लाखो बार भले ही, बोध सुना करोगे,
करोड़ो बार भलेही, संतो का समागम करोगे,
शास्त्र के गहन चिंतन एवं अभ्यास करो,
तब भी बिना साधना न उसे पा सकोगे।

ज्वलंत साधना में जो स्वयं का सर्वश अर्पित करेगा,
वही जानेगा सभी स्वभाव से भिन्न बर्तना,
साधना मात्र उपाय अकेली ही सही,
शक्ति प्राप्त करने व्यर्थ यत्न अन्य सभी गिनो।

– मोटा

(**‘कर्मगाथा’**, आ. २, पृ. ४४-४५)

(१) साधना विषयक सूचनाएँ

चाय पीने के पश्चात शौच जाने के बाद नहा धोकर ध्यान में बैठते हो, तब पूर्वाभिमुख बैठकर आनंद की भावना की या चेतना की लहरों जैसे इस शरीर के हृदयप्रदेश पर एकाग्र दृष्टि रखकर 'यह **जीव**' वहाँ था तब लेते थे, वैसे ही अब अपने शरीर में विद्यमान हृदय पर एकाग्र और केन्द्रित लक्ष्य रखते हु वैसी चेतना लहरियों को लेकर उसकी स्मरणधारणा करते हुए आनंदवृत्ति के साथ उस चेतना प्रवाह को उपर ले जाओ ।

फिलहाल तो शरीर जब तक स्वस्थ न हो पाया, तब तक दिन में कुछ देर आराम करने को रखा है, वह भले ही रखा; परन्तु हमेंशा के लिए ऐसा न करें । मुहँ धोकर पुनः ध्यान में कुछ समय बिताने के बाद ही अपने काम पर आना रखेंगे । **('जीवनसंशोधन', पृ. ३८)**

ध्यान में बैठने से पहले विचार यदि अधिक उद्वेग पैदा कर रहे हों, तब ऐसी स्थिति में ध्यान में न बैठें । 'यदि समय हो गया हो तो क्या करें?' अरे, भाई साहब ! हमें ध्यान में अमुक अमुक समय बैठना है, ऐसा यदि जाग्रत ख्याल निश्चित रूप से रहा करता हो तो उस समय से पहले चेतकर हमें मन को शांत करने के जागृत प्रयत्न करने चाहिए और ऐसा करनेवाले को स्वयं तो उसकी समझ पड़ेगी ।

d:\pm5\mar
dhyey_dhya
(2nd

कोई ऐसा भी मानता है कि कितने ही गुरु ऐसे होते हैं कि शिष्य अयोग्य होने पर भी स्वयं की शक्ति के प्रभाव से उसे संपूर्ण बना देते हैं । किन्तु मेरी समझ और अनुभव की सच्चाई इस विषय में भिन्न है । या तो गुरु के प्रति श्रद्धा, विश्वास और भाव शिष्य में जीवन्त प्रकट हुए हों; तो उसी से एक प्रकार की एकाग्रता का वेग प्रकट हो जाता है और ऐसे श्रद्धा, विश्वास और भाव का प्रेम-भक्तिपूर्वक अनुशीलन और परिशीलन सतत करते रहने से उसमें एक प्रकार की शक्ति उत्पन्न होती है, शिष्य की ऐसी दशा प्रकट होने से, सद्गुरु का उसके प्रति प्रकट हुआ प्रेम और उसके प्रति उनका उभरता उमंग उसे ऐसा बना देने में प्रेरणात्मक और सहायक सिद्ध हो सकता है; अथवा शिष्य अंदर से अधिक तेजस्वी और ज्वालामुखी

जैसा प्रज्वलित तमन्नावाला होने से अंदर से परिपक्व दशा में हो तो भी ऐसा होना संभव है । और, यह काम जल्दी से पूर्ण हो गया होने से दुनिया को इसमें कुछ प्रभाव लगता है । बाकी यों एकदम 'चढ़ाओ चूल्हा, खिचड़ी खायें' होना संभव नहीं है । सारा आधार स्वयं की स्थिति पर है । तथापि उसमें दूसरों की मदद, प्रेरणा, भाव आदि जीवन्त वृद्धि कर सकते हैं सही । अकेले व्यर्थ भटक रहे हों इसकी अपेक्षा कोई दिशा निर्देश करनेवाला हो तो अंतर पड़ सकता है । पर, उसमें भी सद्गुरु पर की अटूट श्रद्धा ही उसे आगे बढ़ाया करती है । बालक में जब चलने की एक नैसर्गिक प्रेरणात्मक शक्ति उत्पन्न होती है, ऐसे अवसर उसकी उँगली पकड़ने में मददरूप हो सकते हैं । यह तथ्य भी समझने जैसा है । यानी सचमुच तो हम में ऐसी urge भी प्रगट हुई होनी चाहिए ।

साधनाकाल में जिस प्रकार का मनोमंथन होता है, उन सारी उलझनों के निवारणार्थ प्रभुकृपा से जो-जो पुरुषार्थ करना होता जा रहा, वैसा पुरुषार्थ होते जाते । उसकी प्रार्थना भी बार-बार हुआ करती । सचमुच, दिल के पुरुषार्थ बिना प्रार्थना से कोई अर्थ सिद्ध नहीं होता । प्रभुकृपा से सही दिशा में पुरुषार्थ होने से स्वयं प्रार्थना करने का मन, हृदय में कुछ कुछ होने से प्रगट होता रहता । (**'जीवनसंशोधन', पृ. ४०९-४११**)

ngaleshwar\
an_hindi.pmd
Proof)

(२) ध्यान का उद्देश्य

ध्यान अमुक प्रकार का ही होना चाहिए, ऐसा आग्रह मन में न रखें । जो कुछ होता जाय, उसे देखें और उसमें से जो कुछ भावना या भाव प्राप्त हो उसका साधना में उपयोग करें । अमुक संवेदनाएँ या अमुक हो, वही ध्यान उत्तम है, ऐसा भी आग्रह मन में रखें । ध्यान का अर्थ तो इतना ही है कि विचार-संवेदना अथवा अन्य भावों-बाह्य रूप में या जगत सम्बन्धी या इन्द्रियाँ, मन, चित्त और अंत में प्राण के संस्कारो के विषय में—हमें आते हैं, उनसे पर हों और वे स्वाभाविक रूप से उद्भवित होने मिट जाँय, लगभग अदृश्य हो जाँय; तभी हमें अंतर के आवाज की समझ पड़ने लगती है । तभी हमें हृदय के सच्चे भावों का पता चलता है तथा उसका भाव, असर और उसका प्रदेश और उसका सर्वदेशीयपन समझ में आता है ।

(१) ध्यान तो हमारे अंतर की खोज (inward search) के लिए होता है ।

(२) समर्पण की भावना के लिए ।

(३) Blankness रिक्तता, निर्विचारता की स्थिति प्राप्त करने के लिए ।

(४) लय होने के लिए ।

(५) प्रार्थना के mood (भाव-तरंग) जैसे हो—इस प्रकार ध्यान भी अनेक प्रकार के होते हैं ।

अतएव एक में ऐसा हुआ और दूसरी बार ऐसा हुआ, इसलिए दूसरी बार भी वैसा ही होना चाहिए ऐसी स्थितिचुस्तता इसमें नहीं है । जो हो उसे देखा करें । जो कुछ प्राप्त हो या स्फुरित हो या जागे उसे साधना के भाव में—वेग, उमंग, जोश बढ़ाने में उपयोग किया करें । ध्यान में (सर्व प्रकार के) एकाग्रता का भाव, मुख्य वस्तु है । यदि ऐसा हुआ (यह एक मुख्य एवं आवश्यक शर्त है) तो ध्यान हुआ, समझें । एकाग्रता न हो या उसका अनुभव न हो रहा हो तब ध्यान नहीं हुआ समझें । एकाग्रता के साथ ध्यान हो तथा लीन हो जाँय और रुचि पैदा हो साथ ही बहुत गहरे-गहरे उतरते जाँय और वहाँ स्थिर हो जाँय । वह स्थिरता—जड़तावाली नहीं किन्तु चेतन-स्फुरणवाली होगी ।

d:\pm5\mar
dhyey_dhya
(2nd

सतर्कता, यह अच्छी है; किन्तु उसे अब व्यावहारिक बातों से खींचकर अंदर ले जाँय अधिक अच्छा है । शायद किसी चीज का ख्याल न रहे तो चल सकता है । किन्तु हमें जो सतर्कता अंदरूनी रखनी है वहाँ सारी सतर्कता का उपयोग हमें करते आना चाहिए । हमारी सारी शक्ति उसमें लगाकर समर्पित कर देनी है । हमारे प्रत्यक्ष दुर्गुण भी इसमें हमें उपयोगी हो सकते हैं । उदा. मेरा भुलक्कड़ स्वभाव है । मुझे उसे उसकी पराकाष्ठा में ले जाकर जो भूल जाना है, उसे उसके काम में—उसे भूल जाने के काम में लिया है और उससे मुझे कुछ भी नुकसान नहीं हुआ है । किन्तु वह सब संपूर्ण ज्ञानपूर्वक करना है । **('जीवनपगरण', पृ. ३३-३५)**

ध्यान के समय तंद्रा आने लगे, तब मुँह पर पानी डालकर, प्रक्षालन करें । फिर साफ पानी में आँखें खुली रखकर मुँह को कुछ देर डुबाकर रखें । और उसके बाद ध्यान में बैठें । मन में भाव आने देना कि अब वह (तंद्रा) आनेवाली है ही नहीं । ऐसे उससे परे होने अपने प्रयत्न करना

है । इस प्रकार प्रत्येक बात को सोच समझकर हमें ज्ञानपूर्वक उससे परे होते जाना है । और ऐसा अनुभव बार-बार करके उसे दृढ़ करना है । ऐसा करते करते हमें विश्वास भी वैसा बैठता जाएगा ।

तुम्हें यह सब अनुभव करते-करते अपने आप समझ में आ ही जाएगा, समझ में आ जाना चाहिए । मैं तो मात्र तुम्हें ऊँगलीनिर्देश ही कर सकता हूँ । बहुत हुआ तो प्रारंभ में थोड़ा उत्साह, श्रद्धा या विश्वास इस विषय में दिला सकता हूँ : 'भाई ! यह बात पूरी तरह से गपाष्टक नहीं है । यह भी एक तत्त्व है । और उसमें जो रस है, आनंद है, वह दूसरे सभी से हटकर कोई और तरह का है । ('**जीवनपगरण**', पृ. ३७)

ध्यान के अन्तर्गत—'जागो हृदय जीवन चेतनशक्ति तुम्हारी' ऐसा भाव रखें । यह पंक्ति मन में या जोर से भी गाई जा सकती है । मात्र मन एकाग्र, हृदय में केन्द्रित होना चाहिए । यदि तुम्हें दूसरे विचार कम आते हों तो जप आदि चालू रखें और यदि उसमें लीन हुआ जाए तो ओर भी अच्छा ।

ध्यान में किसी विशेष प्रकार के भाव जगें या न जगें । उस तरह लक्ष ही न दें । मात्र उसमें से हमें सतत जागृति प्राप्त कर साधना में वेग प्राप्त करने की शक्ति प्राप्त करें, तो वह बहुत है । उस समय दौरान यदि हमारे आग्रह, मंतव्य, भाव, विचार, हमारे व्यवहार-संबंध आदि सभी ही सच्चे अर्थ में लय हो जाँय तो उस बेला तक हमारी अंदर की चेतनाशक्ति को consciousness का—जिसे मैं भगवान का भाव कहता हूँ उसका—हमें स्पर्श होगा, पता चलेगा, अनुभव होगा । इतने प्रमाण में हमें साधना का रस और रंग लगेगा ही ।

हमें सदा मन के भावों के परे रहकर ही सब कुछ करना है । उसका कहना मानकर नहीं, किन्तु हमें वह करना था इसीलिए ही करना है, इस भाव से दृढ़ता के साथ आदत पड़ने से मन अपने आग्रहों, मंतव्यों, दृष्टि बिन्दुओं, समझ अनुभव आदि के लिए आग्रह रखना छोड़ देगा ।

('**जीवनपगरण**', पृ. ४१-४२)

भगवान सभी का है तो मंथन करनेवाले का क्यों न हो? मंथन करनेवाले का तो सबसे पहले हैं । जो मंथन करता है उसे उसका अनुभव होता है; पर जैसे हीरा तौलने का काँटा बहुत ही नाजुक होता है, इसलिए उसे थोड़ी भी जलवायु स्पर्श होने से वह स्थिर नहीं रह सकता और हिलने

ngaleshwar\
an_hindi.pmd
Proof)

लगता है । वैसे ही मंथन करते हों ऐसी स्थिति में हमारे मन की तुला स्थिर न रखें तो ऐसा अनुभव हमें नहीं होगा । इस प्रकार मन की स्थिरता साधना में आवश्यक है ।

ध्यान में किसी भी प्रकार की उथल-पुथल नहीं होने देनी है । ध्यान में समय की गिनती यह मुख्य माप नहीं है; गहराई का ख्याल रखें । उस ख्याल को भी महत्त्व नहीं देना है । ध्यान में बिजली की गड़गड़ाहट (जैसे अनुभव) हो, उसे जानें । बरसात आने से पहले ऐसा-ऐसा तो बहुत कुछ होता है; पर उसके विषय में कुछ भी कोई भाव नहीं करना है । मात्र जो कुछ भी हुआ करें उसकी मुझे जानकारी देते रहें ।

बहुत प्रेमभाव रखकर जो किया करते हो उसे मनोयोग से किया करो । अधिक चित्त लगाये रखें । हो सके उतना संसर्ग सभी के साथ बंद करें, प्रेमभाव सभी के प्रति रखना है; पर दूसरे ढंग से संसर्ग बंद करने हैं । हो सके उतना अपने आप में ही मस्त रहने का रखें । किसी को कुछ भी पूछना नहीं है । तुम स्वयं ही अपने गुरु हो और प्रभु हो । तुम्हें जो कुछ सूझे उसे पूछते रहें । तुम्हें 'जप' करने का सूझा वह योग्य ही है; और ऐसे ही हुआ करेगा । ऐसा कुछ सूझे वह अच्छा हो या न हो तब भी बतलाते रहें । नींद से जागने पर स्मरण हो वह भी ठीक है । पर आदर्श तो है नींद में भी स्मरण चलता रहे । हृदय की प्रत्येक धड़कन के साथ स्मरण रहे ऐसा हमें करना है ।

मन को बार-बार टोका करें—दिये की लौ का जिस तरह संकुचन होता है वैसे । प्रत्येक पल अंतर से समर्पण किया करें । किसी में भी 'दो मत' न होने दें । 'ऐसा हुआ इसलिए ऐसे या वैसा हुआ इसलिए वैसे', इस प्रकार विचारों का आंदोलन न होने दें । कहीं कुछ भी विचार न उत्पन्न होने दें । जैसे हुआ जाता हो वैसे भले ही हुआ करे । हमें तो अपना भाव उत्तरोत्तर बढ़ाये जाना है । वह भी मन, बुद्धि आदि करणों को अधिक से अधिक शरण में सर्वभाव से बनाते हुए ही और नम्रता की चर्मसीमा तक जाकर । अनन्य भाव से श्रीभगवान की प्रार्थना किया करें । 'कृपागंगा तुम्हारी, सतत उतरे मुझ पर प्रभो !' ।

भगवान तो प्रगट होने के लिए आतुर हैं । पर हमें आतुरतापूर्वक जिस प्रकार चेतनामय रहना चाहिए उतना चकोर और जाग्रत सब तरफ से रह नहीं पाते हैं, यही सबसे बड़ी कमी है । (**'जीवनपगरण', पृ. ४३-४५**)

d:\pm5\mar
dhyey_dhya
(2nd

(३) ध्यान का उपयोग

ध्यान में अमुक समय हुआ इसलिए पूरा कर डाले, ऐसा न करें। जब जब भी ध्यान में रहा जाता हो तब समय के कारण ध्यान छोड़ न डाले और तद्‌पश्चात् उसका उपयोग साधना के बल में किया करें। (**'जीवनपगरण'**, पृ. ४५)

किसी भी कर्म को मनुष्य किस उद्देश्य और किस भाव के साथ करता है, वह उसकी जीवनकक्षा का माप लक्षण है। कर्म किये बिना तो चलता नहीं है और चलनेवाला भी नहीं। अतः जो कर्म हमारे हिस्से में करने हेतु आये उस कर्म से और उस कर्म द्वारा जीवन का उद्देश्य सतेज होता रहे, इस ढंग से उसे करना चाहिए। ध्यान प्रार्थनादि साधन की तरह, इस प्रकार के कर्म के आचरण की कला यह भी एक बलवान साधन है। बहुत सारा सीखना, जानना और अनुभूति कर्म द्वारा जीवन में प्राप्त होता है। इसीलिए ही मेरी विनती है कि अपना कर्म करते हुए कभी भी ऊबा न करें। यदि कर्म करते हुए ऊब होने लगे तो वैसा कर्म अनेक गुना हमें अधिक से लिपटेगा और चिपकेगा। इसलिए कर्म करें वह श्रीप्रभुप्रीत्यर्थ के उद्देश्य के साथ करें और वह उद्देश्य फलित हो उस ढंग से और उस भाव से करें, इतना खास लक्ष में रखें।

ngaleshwar\
an_hindi.pmd
Proof)

ध्यान में यदि कोई कल्पना आये तो उस पर हम किसी प्रकार का लक्ष न दें और न रखें। ध्यान में तो मात्र स्थिर भाव ही रखना है। उल्टा, जो प्रकट हो उसका उसी क्षण ही उत्कट ढंग से इन्कार करना है। और बहुत हुआ तो उसे तटस्थता से, समता से देखते रहना है। परन्तु अब, जैसा कि पहले पत्र में लिखा है, उसी प्रकार शांति, प्रसन्नता, स्थिरता, तटस्थता, समता आदि न उत्पन्न होते हों और यदातदा होता हो तो ध्यान अकेले न कर नामस्मरण जो उत्तम साधन है, उसे करना जारी रखें।

तुम आगे बढ़ते ही चलो। अब बिना काम के विचलित नहीं होना है तथा न निराशा में भी डूब जाना है। यदि 'इस **जीव**' से अलग होने में आनंद होता हो तो वैसा करने के लिए भी संपूर्ण रूप से स्वतंत्र हो। कोई किसी से बंधा हुआ नहीं है। 'यह **जीव**' तो उससे बंधा हुआ है और उसी में है और अब उस तरह के जीवन अंतरभाव को विस्तरित करने की कला में प्रगट होने का समय है। इसलिए इसतरह प्रेरित होने के लिए जीवन के उद्देश्य की सिद्धि के लिए जो जो स्वजन स्वयं ही प्रभुकृपा से मेरे पास आए हैं, उनमें भी उस भाव से

ही प्रेरित रहता हूँ। परन्तु तुम स्वतंत्र हो। कृपाकर मन को स्थिर रखें। यह क्या? और यह कैसा खेल? उसे जैसा दौड़ने का सूझता है वैसे हम भी क्यों उसके पीछे दौड़ते हैं? बहुत हुआ तो उसका खेल देखा करें और स्थिर रहें इतनी प्रार्थना है। जो करना है उसे करके ही छोड़ें। फिर उसके विचार उद्‌भवित हों तो उसमें समाधान करें। (**'जीवनदर्शन', पृ. १३४-१३५**)

तुम्हें स्वयं अपना तटस्थतापूर्वक निरीक्षण और पृथक्करण स्पष्ट रूप से करते रहना चाहिए। हम स्वयं अपने बारे में सोचने के लिए अवश्य शक्तिमान हैं। हम में स्फुरित होनेवाले विचार, वृत्तियाँ, अलग-अलग व्यक्तियों के संबंधो के कारण होनेवाले आघात प्रत्याघात, ये सभी ज्यों के त्यों प्रकट होते हैं इसप्रकार निरीक्षण करते हुए हमें अपनी स्वयं की जीवदशा—किस प्रकार की है, उसे आसानी से समझ सकते हैं। हमारी समझ के अनुसार तो कोई आगे या पीछे नहीं है। प्रभुकृपा से साथ में ही हैं।

परन्तु सच बात तो यह है कि सब कुछ करने पर भी उसकी लहर तो अंतर में अंतर से जीतीजागती रहा करती है, अंतर को प्रकाशित करती है, इस तरह की एकाग्रता और हृदय में हृदय से उसके प्रति की केन्द्रितता हमारे में प्रकट होनी चाहिए, यह हमें विशेष रूप से ध्यान में रखना है। मानो कि ध्यान में बहुत एकाग्रता प्रगट हुई पर उसमें से उठने के पश्चात हम उसे भूल जाँय और हमारा चलता हुआ प्रवाह रुक जाय, दूसरे बाहर के कामों में डूब जाँय और हमारे महत्त्वपूर्ण कर्म की सजगता यदि हम भूल जाँय, तो ध्यान में प्रगट हुई एकाग्रता और केन्द्रीकरण सही रूप से काम नहीं दे पाते, ऐसा समझना चाहिए और उतने अंश में वे कम उपयोगी हैं। अभी उनकी कार्यसाधकता और कुशलता योग्य प्रकार की नहीं हुई है यों समझना है। दैनिक कर्म व्यवहार में, संबंध में, संपर्क में आदि में हमारी मनबुद्धि किस-किस प्रकार की भूमिका में विचर रही है और रह रही है अथवा तो उसकी चढ़-उतर के बीच में कितना अंतर रहता है, उस पर से भी ध्यान में हुई एकाग्रता और केन्द्रीकरण किस प्रकार की है, उसकी हमें समझ आ जाएगी। ध्यान का उद्देश्य नीरवता को लाना है। नीरवता कोई यों ही नहीं प्रगट हो जाती है। तटस्थता, समता, उसके साथ-साथ अनासक्ति, निराग्रह आदि जीवन में प्रत्यक्ष रूप से प्रगट हो तब ध्यान से प्राप्त शक्ति हमें दैनिक कामों में भी उपयोगी हो सकती है।

d:\pm5\mar
dhyey_dhya
(2nd I

ध्यान में बैठने का एक उद्देश्य जैसे नीरवता को प्राप्त करना है, वैसे ही उसका दूसरा उद्देश्य नीरवता की स्थिति में हमारे कर्मव्यवहार चलते रहने पर भी हानि न हो और कर्म स्वयं ही सहज रूप से चलता रहै, वैसी शक्ति जाग्रत करनी है। ध्यान से जीवन स्तर ऊपर उठता है और हमें उसका ज्ञान रहता है। ऐसी ज्ञान चेतना की लहरी सतत समान रूप से सब कुछ करते-करते जीतीजागती रहा करे उसके लिए भी ध्यान का साधन उत्तम है। आजकल देखते हैं कि यों ही सभी ध्यान करने बैठ जाते हैं। जिस प्रकार व्यापार करने के लिए पूँजी की आवश्यकता अत्यधिक होती है, उसी प्रकार ध्यान के लिए भी उसका प्रारंभ करने से पहले हमारे मनादिकरण में एकाग्रता बनी रहे यह अति आवश्यक है। एकाग्रता के बिना ध्यान संभव नहीं है। (**'जीवनदर्शन', पृ. १७-१८**)

(४) ध्यान में एकाग्रता

ngaleshwar\
an_hindi.pmd
Proof)

तुम्हारे साथ स्थूल रूप से 'यह **जीव**' वहाँ था और रात में सोने से पहले ध्यान में बैठते तब ध्यान ही ध्यान में तन्द्रा और उसके बाद निद्रा भी आ जाती थी। उस विषय में, मैंने तुम्हें टोका भी था। ऐसा होना यह तमस और जड़ता का लक्षण है। सुबह ध्यान में बैठते हैं, तब भी हम पर सवार हो जाते हैं; अभी ध्यान में एकाग्रता प्रगट नहीं हुई है, तब भी, वैसी तन्द्रा, तन्द्रा नहीं पर एकाग्रता है, ऐसा भास हमें मन करवाएगा; इसलिए हमें जागृत रहना है। ध्यान में यदि ऐसी जीवन्त एकाग्रता प्रकट हो रही हो, तो उससे तो अत्यन्त स्फूर्ति और शक्ति उत्पन्न होती है। शरीर हल्का हल्का हो जाता है। ध्यान से पैदा हुई एकाग्रता की असर मनादिकरण में भी थोड़ी बहुत होती है। ध्यान से उत्पन्न हुई एकाग्रता की गहरी असर से उस काल दौरान केवल मन संकल्प-विकल्प करते मिट जाता है। प्राण में आवेश और आवेग नहीं आ पाते। एकाग्रता का एसा प्रभाव है। ऐसी एकाग्रता होने से हम किसी में फँसते नहीं हैं। इसलिए ध्यान की एकाग्रता में और तन्द्रा में बहुत-बहुत अंतर है। तन्द्रा यह तो निरा तामस है और हम में तो बहुत-सा निरा तामस भरा है कि जिस तामस की डोरी अभी तक हमें नहीं मिल पाई है। जैसे कुत्ता अपने शरीर पर पानी पड़ते ही कैसे पूरा शरीर झंखझोरकर पानी को झटक देता है। उसी प्रकार ध्यान में तन्द्रा प्रकट होने पर हमें शरीर से निकालकर अंतर से अंतर को सतेज करना है। ध्यान में यह एक बड़ा भयस्थान

है। नींद आ जाय यह तो ठीक, इसका तो पता चलता है, पर एक प्रकार की तन्द्रा ऐसी आ जाती है कि जिसे आधी नींद की दशा कहते हैं। जिसमें हमारी देहचेतना की दशा में आते है ऐसे विचार आते नहीं लगता; इसलिए साधक को लगता है कि स्वयं ध्यान की गाढ़ दशा में हैं, परन्तु सचमुच तो स्वयं तन्द्रा में पड़ा होता है। ध्यान की एकाग्रता में आंतरिक चेनता की स्फूर्ति सतेज होती रहती है। ध्यान की एकाग्रता की दशा से तो प्रसन्नता बढ़ती है। शरीर में प्राण चेतना का संचार अनुभव होता है। मन में सविशेष उत्साह अनुभव होता है। ऐसे लक्षण से ध्यान की एकाग्रता और तन्द्रा का अंतर सहज में ही समझ सकते हैं।

यद्यपि तुम ध्यान में 'शून्य' स्थिति में रहने का प्रयत्न करते हो (जब कि विचार तो आते ही हैं तब भी) ऐसा प्रयत्न अभी तो योग्य प्रकार का नहीं है। ध्यान की वह तो अंतिम से अंतिम कक्षा है। शून्य अर्थात् कहीं कोई नकारात्मक भाव नहीं है। शून्य की तो एक ऐसी कक्षा है कि जिसमें कहीं कुछ न होने पर भी ऐसा 'एक' कुछ प्रकट होता है कि जिसमें से दूसरा सारा प्रकट हो सके। हम अभी जिस प्रकार की जीवदशा में हैं उसके लिए उस प्रकार का ध्यान होना कभी भी संभव नहीं है। इसलिए अभी तो उसके बदले ध्यान में एक ही भाव रखने का प्रयत्न करके देखें। जब तक हमारी जीवदशा है, तब तक अव्यक्त को ग्रहण करना बहुत ही कठिन है। साकार को ग्रहण करना सरल है और रचनात्मक है। इसलिए हमने जीवन में जिस तरह का दिल में ज्वलन्त आदर्श रखा है, उसका भाव सतत बनाए रखना चाहिए। ध्यान में एक ही प्रकार का भाव जीवन्त पैदा होता जाय ऐसा अभ्यास शुरू-शुरू के समय के लिए उत्तम है। उसके बाद सद्गुरु के हृदय पर प्रेमभक्तिपूर्वक लक्ष्य रखकर उसमें ज्ञानपूर्वक लय होते रहना ऐसा अभ्यास भी आवश्यक है। ध्यान में हो उस समय एवं अन्य दैनिक कर्मव्यवहार में तथा समय पर अनेक प्रकार के विचारों की जो परम्परा जगती है, उसमें फँसे नहीं; ऐसा जाग्रत प्रयत्न करते रहें वह भी एक प्रकार का ध्यान है। प्रार्थना भी एक प्रकार का भावात्मक ध्यान है। ध्यान के उपयोग से हमें नीरवता प्राप्त करनी है। इसलिए जीवन के दैनिक कर्मव्यवहार में और आंतरिक करणों की प्रवृत्ति में जागृतिपूर्वक जितनी शान्ति और प्रसन्नता रख सकेंगे उस अनुपात में हम ध्यान में मग्न होते जाएँगे उसे लक्ष में रखें।

d:\pm5\mar
dhyey_dhya
(2nd

हमें ध्यान की योग्यता प्राप्त करने के लिए सभी दैनिक व्यवहारों में जाग्रत रहना है। मन से निःसंग जितना रह सकें उतना उत्तम। निःसंग का स्थूल अर्थ तो अंतर के प्राकृतिक तत्त्वों का अपरिग्रह है यह तो लिखा हुआ है। ध्यान में यदि सच्ची एकाग्रता लानी हो तो दिन के दूसरे समय में हो सके उतना हमें शान्त, निस्तरंग, निर्विकारी, अनासक्त, निर्मम बनना है। बाहर के किसी भी प्रसंग से आघात होने से किसी भी प्रकार की अशान्ति न हो, वह भी निःसंग का अर्थ है। प्रारंभ में ऐसा भी होता है कि अकेले-अकेले रहने के एक प्रकार का स्वप्न जैसा लगता है। कहीं भी कुछ अच्छा नहीं लगता। इसे निःसंग कह ही नहीं सकते। निःसंग यानी हम अकेले रहते हो और किसी से मिलते न हो, किसी से बात न करते हों, उसका नाम निःसंग नहीं है। सच्ची निःसंगता तब उत्पन्न होती है, जब मनादिकरण अपने प्राकति धर्मों के व्यवहार से मुक्ति पाते हैं और दिल में प्रसन्नता स्फुरित होती है।

जब अधिक बोझ जैसा लगे तब इस मार्ग की बातें जिसे इस विषय में रुचि हो और हमारे साथ प्रेमभाव रखता हो ऐसे व्यक्ति के पास जाकर सत्संग की बातें दिल से करेंगे तो बोझ हल्का हो जाएगा। मन पुनः प्रफुल्लित हो जाएगा, ताजा हो जाएगा। ऐसा अनुभव तो उसकी कृपा से तुम्हें करवाया है। जो कुछ भी अनुभव हो और इससे मन की स्थिति परिवर्तित हो जाय तो वह अनुभव भी सद्‌गुरु है।

Frankness अर्थात् हृदय का खुलापन यह भी इस मार्ग का एक सबसे सबल साधन है। प्रभुकृपा से हमारे बीच का सम्बन्ध लम्बे समय से है इसलिए निखालस रहने की सरलता तुम्हें अच्छी तरह प्राप्त हो चुकी है। तथापि ऐसी निखालसता को अब जिस प्रकार का निखालस होना है उसमें अंतर है, उसे तुम समझोगे। मित्र प्रकार का निखालस होना यह नींवरूप में आवश्यक हो सकता है। सही रूप में निखालसता तो मनादिकरणों के प्राकृतिक धर्मों का गल जाना है।

अभी धारणा तो ध्यानादि में भी नहीं टिकती। जप-यज्ञ की धारणा में अच्छा खासा भंग पड़ता है। मात्र आनंदवृत्ति रहती है, पर उस वृत्ति का सदुपयोग नहीं होता है। ऐसी उत्पन्न होनेवाली आनंदवृत्ति के बहाव का ज्ञानपूर्वक उपयोग जप की धारणा गहन भाव से हो इस प्रकार उस ढंग से और उस दिशा में करना है। ऐसे ध्यान से उत्पन्न होनेवाली आनंदवृत्ति का जैसे तैसे उसका उपयोग नहीं करना है। न उसे बिखरने देना है।

ngaleshwar\
an_hindi.pmd
Proof)

रात को सोते समय और सुबह के ध्यान के समय में सद्‌गुरु को खूब हृदय की प्रेमभक्ति से उमंग से याद करोगे तो आनदं मिलेगा । भाव रहित स्मृति किस काम की? दिल में उमंग भरपूर हो और न्योछावर हो जाँय ऐसा प्रेमभाव उत्पन्न हो तो स्वप्न-वप्न अपने आप ही भाग जाएँगे ! यह मार्ग तो प्रेम का मार्ग है । इसमें तो प्रेमभाव का महत्त्वपूर्ण मूल्यांकन हो ही नहीं सकता । हृदय के ऐसे भाव से सद्‌गुरु के दिल में साधक अपना दिल यदि पिरो सके तो वह बहुत हितावह और आवश्यक है । (**'जीवनसंशोधन', पृ. ८१-८६**)

(५) ध्यान में विचारों की श्रृंखला

ध्यान में जो विचार स्फुरित हो, वे तो नदी के तट पर हम बैठे हों और नीचे जैसे पानी बहते हुए देखा करते हैं, उसी प्रकार विचारों को साक्षीभाव से मात्र देखा करना है । उदा. तुम्हें किसी व्यक्ति या प्रसंग के विषय में एक विचार उठा, तो वह भले उठा, परन्तु बाद में उसके आनुषंगिक corresponding उसके साथ जुड़े दूसरे विचार उठें तो समझे हमें उस व्यक्ति या विचार के विषय में आसक्ति है और हमने उसमें रुचि ली, कहलाएगा । एक विचार उड़ते उड़ते एक बिखरे हुए किसी एक छोटे-से बादल की तरह तेजी से आकर उड़ जाए या निकल जाय तो कोई आपत्ति नहीं । परन्तु उस विचार में रुचिपूर्वक सम्मिलित न हों घट्ट बादलों के पीछे दूसरे बादल दौड़कर आते हैं, उसी प्रकार हमारे अंतर के आकाश को वे घेर न लें यह हमें ध्यान रखना है । एक ही विचार आकर निकल जाय ऐसा ज्ञानपूर्वक अभ्यास करते रहना है । ऐसा शायद तुम पूछो कि विचार किये बिना कर्म कैसे हो सकते हैं तो विचारश्रृंखला की परम्परा उत्पन्न न हो इस प्रकार का ज्ञानयुक्त लगातार अभ्यास जब होने लगता है, तब कर्मयोग योग्य भाव से उत्तमोत्तम रूप में अचानक हो सके ऐसी भागवती प्रेरणा अथवा अंतःस्फुरणा प्राप्त होती रहती है । उस समय उस कर्म को करने के लिए एक के बाद एक विचारों के पदचिह्नो की आवश्यकता पैदा नहीं होती । उस समय कर्म करने के लिए विचार उत्पन्न होता ही है ऐसा कुछ भी नहीं । विचार का भाव पैदा होकर वह भाव कर्म में प्रेरित हो कर्म को परिपूर्ण करवाता है । इस प्रकार के जीवन्त अभ्यास के अभ्यस्त होनेपर विचारों की श्रृंखला का उठना विलीन हो जाता है । इसलिए जाग्रत रहकर हमें यह क्रिया करनी है । एक दो विचार आयें कि तुरन्त घबराये

d:\pm5\mar
dhyey_dhya
(2nd I

बिना जाग्रत हो जाना चाहिए और उसकी श्रृंखला उत्पन्न होने लगे तो उसे उतने में ही कैसे रोकें उस विषय में विशेष सावधानी रखनी है ।

ध्यान का कोई एक ही प्रकार नहीं हो पाता। पहले भी तुम्हें लिखा है वैसे हमारे जीवन की भूमिका में लगातार एकाग्रता का भाव (न कि अमुक पल के लिए) प्रकट हुए बिना ध्यान होना संभव नहीं होता और ध्यान यानी क्या उसका भी हमें योग्य अवधारणा नहीं बनी होती है। ध्यान किसका, क्यों, किस तरह करें इन सब बातों की समझ यथायोग्य रूप से बहुत कम को पता होती है। आजकल तो कोई भी आँखें बंद कर बैठ जाते हैं और उसे ध्यान कहने लगते हैं। ध्यान के लिे भी अमुक निश्चित समय, निश्चित स्थल और मुख्य तो निश्चित प्रकार की लगातार एकाग्रताभरी मनोदशा, इन सब की अत्यधिक आवश्यकता है। एक सप्ताह में एक बार इस प्रकार का ध्यान रखें कि जो विचार उस समय आए, उसे आने दें और उसमें रुचि लिए बिना साक्षीभाव से रहने का अभ्यास करें। जो कुछ आए—अच्छा या बुरा—उसे प्रेमभक्तिभाव से, उद्देश्य की ज्ञान चेतना के साथ, समर्पित किया करें। इस प्रकार प्रकट होनेवाले विचार के समर्पण की लगातार श्रृंखला चलती रहे यह एक प्रकार का ध्यान है। इतना ही नहीं एक ध्यान इस प्रकार का भी होता है कि जिसमें हमारा ध्यान अपने सद्‌गुरु के हृदय पर एकाग्र और केन्द्रित रहा करे और वैसा भाव तब एकसमान लगातार जीते जागते प्रगटता रहा करे। और एक ध्यान शून्यत्व का भी हो सकता है। परन्तु शून्यत्व केवल कोरा और अभावात्मक तो हो ही नहीं सकता। यह शून्यावकाश यानी कुछ भी कहीं नहीं ऐसा नहीं है। उसमें भी एक प्रकार का गूढ़ भाव व्याप्त रहा हुआ होता है।

ngaleshwar\
an_hindi.pmd
Proof)

ध्यान अर्थात् एकाग्रता और केन्द्रीकरण उत्पन्न हो इतना ही नहीं पर तटस्थता, समता, प्रसन्नता, आदि भी आती है और उसका उपयोग दैनिक जीवन के व्यवहार में सोच समझकर करते रहना चाहिए। यानी कि हम जो कुछ भी किया करते हैं वह शांति से, प्रसन्नता से, समता से, तटस्थता से किया करें और ऐसा अभ्यास यदि ज्ञानपूर्वक किया करें तो ध्यान में विशेष रूप से गहराई में उतरा जा सकता है। लोग सुबह आधे पौने घण्टे या घण्टे तक ध्यान करें यानी कि मानो सब कुछ पूरा हो गया। परन्तु यह योग्य नहीं है। ध्यान में फलित होनेवाले परिणाम को हम व्यवहार में लाते रहें, इसी प्रकार ध्यान से फलित होती भावना के प्रकार को भी आचरण में सजगतापूर्वक लाते रहें तो उससे भी एक प्रकार की ध्यान

श्रृंखला बनी रहती है । ध्यान में भावात्मक शून्यावकाश का अनुभव तभी होता है, जब दीर्घकाल का सद्भावपूर्वक निरन्तर अभ्यास किया हो ।

(**'जीवनदर्शन'**, पृ. ७३-७६)

(६) प्रार्थना : ध्यान का एक प्रकार

एक प्रकार का ध्यान इस तरह से हो सकता है कि जिसमें प्रार्थना की भावना का लगातार सोते जागते अनुसंधान दिल में दिल से चलता रहे । प्रार्थना का भाव प्रार्थना की किसी एक पंक्ति में हो और उसके रटन से जो भाव निकले, वह भाव वापिस अंतर के मनादिकरणों में ओतप्रोत हो जाए, सराबोर हो जाए अथवा उसे पचा लें तो उसे भी ध्यान कह सकते हैं । इतना ही नहीं, वरन् अमुक स्वतः स्फुरित हुए भावात्मक शब्द, श्लोक या प्रार्थना या भजन से अथवा अलग-अलग प्रसंगो में अलग-अलग निमित्तकारणों से प्रार्थना करने का मन हो और ऐसे समय में भले प्रार्थना के अनेक शब्द स्फुट हों और वाक्यों की भले श्रृंखला चला करे, तब ऐसे अवसर पर उस प्रार्थना के प्रकार का एक गहरा भाव दिल में दिल से सोते जागते यदि रहा करें और ऐसा भाव किसी भावनात्मक परिणामस्वरूप उत्पन्न भले ही हुआ हो पर उससे हृदय आर्द्र होकर गद्गद हो जाता हो और प्रार्थना चलती ही रहा करती हो, तो इस प्रकार का यदि एक अखण्ड भाव लगातार दिल में हमेशा रहा करे तो, यह भी एक प्रकार का ध्यान है। दिल में दिल से एकाग्रता से स्फुरित हुई प्रार्थना यह भी एक प्रकार का ध्यान है। प्रार्थना में दिल की भावना का तत्त्व विशेष रूप से विद्यमान होने से उससे जो भाव उत्पन्न होता है, उस भाव की उत्कटता के परिणामस्वरूप एकाग्रता और केन्द्रीकरण आता जाता है; ऐसी एकाग्रता और केन्द्रीकरण यदि ध्यान से आता है वह प्रार्थना से उसके भाव से भी आता है, इसलिए ऐसा प्रार्थना से जो हुआ करें यह भी ध्यान का एक प्रकार ही गिना जा सकता है ।

जीवनविकास की जो झंखना पैदा हो जाती है, उस झंखना को सदा चेतनमय रखने के लिए ध्यान या प्रार्थना के साधन की अटूटता आवश्यक है । ध्यान से या प्रार्थना से इस प्रकार की झंखना को जीवन्त रखी जा सकती है और वह अधिक से अधिक ज्वलन्त रहा करती है । साधना के ऐसे ज्ञानभक्तिपूर्वक के अभ्यास से ऐसा जो परिणाम आता है, वह कोई मामूली बात नहीं और अंत

d:\pm5\mar
dhyey_dhya
(2nd I

में तो ऐसी ज्वलन्त अग्नि की ज्वाला जैसी झंखना ही हमें अविरत लगातार जीवन-विकास के प्रवाह में अधिक आकर्षित कर गतिशील रखा करती हैं। परन्तु हमें झंखना और भावना का अंतर समझना आवश्यक है। मैंने साधना के विषय में कुछ भी साहित्य नहीं पढ़ा है, इसलिए उसके योग्य भाव के लिए कौन-से योग्य शब्द का उपयोग होना चाहिए वह मैं नहीं जानता। अतः उस भाव हेतु योग्य शब्दों का उपयोग मैं नहीं कर सकता। यह मैं जानता हूँ।

झंखना निम्नगामी और ऊर्ध्वगामी दोनों होती है। परन्तु भावना में ऐसा नहीं होता। भावना तो ऊर्ध्वगामी ही होती है। ऐसी भावना को प्रज्वलित चेतनाशील रखने हेतु ऐसे साधन के अभ्यास की बहुत आवश्यकता है। साधना के अभ्यास से जो भाव प्रगट हो, उस भाव की प्रेरणा जीवनव्यवहार आचरण में उपयोगी हो तभी वह सही कक्षा की प्रगट हुई है ऐसा मानना। यानी ध्यान के माध्यम से उत्पन्न एकाग्रता, केन्द्रितता, समता, शांति, प्रसन्नता, आदि का हम सोच समझकर दैनिक जीवन के व्यवहार में उपयोग किया करेंगे, तो उसकी ऐसी शक्ति अनेक गुनी पैदा होगी। ध्यान पूरा होने के पश्चात एक प्रकार का चक्र (भंवर) सा रहा करता है, उस चक्र का उपयोग हृदय पर लक्ष्य रखकर भावात्मक स्मरण करने में किया करें, तो उसका जोश (उत्साह) विशेष रूप से उपयोगी होगा।

ngaleshwar\
an_hindi.pmd
Proof)

इस तरह साधना के अभ्यास से प्राप्त परिणाम का उपयोग होते-होते उसी साधन के अभ्यास का भाव आचरण एवं व्यवहार में भी लगातार रूप से चलता रहेगा। इस प्रकार ध्यान, प्रार्थना, त्राटक, स्मरण आदि साधना के अभ्यास के भाव को जैसे-जैसे हम उसे व्यवहार कला में उपयोग करते जाएँगें, त्यों-त्यों भाव की कला विशेष रूप से खिलनेवाली है। किसी भी प्रकार की 'अच्छी' समझ में आई हुई या 'खराब' समझे जानेवाली भावना आदि अंतर में उठनेवाले हरेक प्रवाह का सदुपयोग एकाग्रता एवं केन्द्रितता लाने के लिए करना है। ''बाबा बैठे तो जपे; और यदि आए वह खपे' यह कहावत का अर्थ तो नकारात्मक है, परन्तु हमें उसे सही अर्थ में लेना है। जिस किसी का साधन के अभ्यास भाव में उपयोग करके उसे किस प्रकार विशेष और विशेष दृढ़ रूप से उद्दीप्त हो और हम सीधे करके बिठावे, सचमुच वही एक मात्र हमें काम में आएगा। फिर तो, किसी भी प्रवृत्ति में हम भले क्यों न हों, तो भी वहाँ, वहाँ से हमें श्रीभगवान का भाव ही मिलनेवाला है, उसे निश्चित जानें।

'यह **जीव**' पर तुम्हें जब दिल में दिल से भाव हो, तब तुम्हें कविता आदि नहीं करनी चाहिए, क्योंकि इससे उत्पन्न भावना को बहार बह जाने के लिए एक outlet (रास्ता) हम बना देते हैं और इस तरह से वह पानी बाहर बह जाता है । परन्तु हमें तो ऐसे उत्पन्न होते भाव प्रवाह को अंतर बागबान के फूलफल की क्यारियों के पौधों को पानी पिलाना है । उसे कविता आदि द्वारा बाहर नहीं बहने दिया जा सकता है । प्रेमभाव काव्य द्वारा व्यक्त होगा तो ही अच्छा ऐसा कोई थोड़ा ही है? (**'जीवनदर्शन', पृ. ७७-८०**)

तुम्हें मित्रों, सगे-संबंधियों के साथ बातें करते हुए अंदर से जाप कैसा चल रहा है, उसकी परीक्षा लेने का मन हो तो वैसा जरूर करें । जहाँ कहीं प्रेम से, भाव से उसे दृढ़ करने में लगे रहना और किसी के झाँसे में न आना । जो कुछ करें वह सब तरह से सोच विचारकर करें । हमारा मध्यबिन्दु दुनिया में नहीं है पर अपने आप में हैं । इसकी हमें सजगता सतत रखनी है । स्वयं की दृष्टि स्वयं पर रखें । हमें तो अपना जो कुछ भी है प्रेमभाव से कर डालना है और इसी में ही संतोष मानें । दूसरे क्या करते हैं, उसकी परवाह या विचार भी न करने की आदत डालें । वही अपने लिए अच्छा है ।

d:\pm5\mar
dhyey_dhya
(2nd

(७) ध्यान में एकाकारत्व

१. जब ध्यान में एकाग्रता आ जाती है, तब सचमुच तो मन, बुद्धि और चित्त—सब का लय हो गया होता है और उनमें सुमेल हो जाता है । ध्यान के आरंभ में तुम्हें चित्त को—लक्ष्य को हृदय पर केन्द्रित रखना होगा, पर एकाग्रता स्थिर हो जाने पर, ये सभी एकरस हो जाते हैं ।

२. काफी लम्बे समय पश्चात दो स्नेही-प्रेमीजनों के मिलन के समय दोनों के दिल में एक प्रकार की प्रेमभावना स्फुरित होती है, तब उसकी उत्कट भावना का वेग इतना अधिक उत्पन्न हो जाता है कि उस मिलन पूर्व के कितने ही गंभीर विचार भी कहीं अदृश्य हो जाते हैं, मानो थे ही नहीं । इस उत्कट भावना के कारण हमें तब प्रेम का रोमांच होता है और उसकी असर ज्ञानतंतु पर होती है, क्योंकि तब भावों की बाढ़ आई हुई होती है । इसकी यही स्थिति लीनता या एकाग्रता की होती है । वह सुमेल जब होता है, तब हमारे अंदर किसी अन्य प्रकार की चेतना जागती है और उसका जोश सर्वत्र व्याप्त होता है ।

३. ध्यान के समय प्रारंभ में हमारा लक्ष्य हृदय पर हो । ऐसा करते-करते यदि विचारों का संपूर्ण लय हो जाए और मन, चित्त तथा हमारे संस्कार आदि हमसे बिछुड़ जाँए ऐसी blankness (शून्यता या खालीपन) उन सब में आ गयी होगी तो हमें किसी प्रकार की खोज करने की आवश्यकता नहीं रहेगी । जो कुछ वास्तविक स्वरूप में हम हैं वही अपने आप सहज रूप में वहीं है और वहीं अनुभूत होगा । हम सब की जो उल्टी खोपड़ी हो गयी है और जिसके कारण दृष्टि में अलग-अलग स्वरूप दीखते हैं, वे रंग चले जाने के कारण बाद में तो जो असली स्वरूप है ही वही महसूस होने लगेगा । इसके लिए तो कोई परिश्रम करने की आवश्यकता नहीं है । जो कुछ परिश्रम करना है वह उपरोक्त कहे अंगों के साथ करना है । Physical heart (स्थूल शरीर का हृदय) और उस heart (सूक्ष्म हृदय) के बीच संबंध होगा या नहीं उसकी मुझे कुछ भी समझ नहीं है । भगवान का नाम लेना जानता हूँ । इसके अलावा अन्य कुछ नहीं जानता । योगशास्त्र पढ़े नहीं हैं । तुम्हें ये सब जानना हो तो किसी जानकार पंडित को पूछ लेना चाहिए । हमें तो अनुभव के साथ काम करना है । उससे काम हुआ तो गंगा नहाये । कमियाँ निकालना यह तो डॉक्टरों या विद्वानों का काम है । हम तो आनंद लेना जानते हैं । इसका अर्थ ऐसा नहीं कि तुम्हें जो जानना अच्छा लगे वह तुम मुझसे न पूछो, पर जिस तरह मुझे आएगा उसी तरह मैं तुम्हें बतलाऊँगा, बाकी ऐसा कुछ मैं नहीं जानता । ऐसा कुछ अधिक पढ़ा लिखा नहीं है । अनुभव में तो मैंने तुम्हें बतलाया वहाँ से (शरीर के उस भाग से) भाव उद्भव होता हो ऐसा लगता है ।

जब तक हम समझपूर्वक और ज्ञानपूर्वक मन स परे होकर विचार नहीं करेंगे तब तक हमारे दिन नहीं फिरेंगें । इसके लिए हो सके उतना मन से सोचना हमें कम कर देना चाहिए । ध्यान या प्रार्थना के समय अलावा भी हमें मन को अभ्यास के लिए पाँच-पाँच मिनिट (अरे ! प्रारंभ में तो दो-तीन मिनिट) पूरी तरह शान्त और शून्य अवस्था में रखना है और तद्पश्चात जो भी विचार आते हों (न आते हों तो अच्छा पर यह कठिन है) उसे स्वयं अपने आप ऐसे पैदा न होने दे पर स्वयं मन को कहे कि, 'चलो, अब तुम्हें जितने विचार करने हों उतने कर लो ।' तब उसे संपूर्ण स्वतंत्रता दें । पर तब हमें उन विचारों के साथ मिल नहीं जाना है और जरा भी रुचि लिए बिना, तटस्थता के साथ साक्षी रूप से सब कुछ निरीक्षण करते जाँय । तद्पश्चात उसका हमें पृथक्करण करना है और क्या उचित

ngaleshwar\
an_hindi.pmd
Proof)

है और क्या नहीं वह सोचना है और उसी के अनुसार बाद में मन को समझाएँ। हमें यह अभ्यास मन से परे हो ऐसी स्थिति—दशा—कक्षा के परिणाम लाने के लिए आवश्यक है। मन प्रत्येक वस्तु में अपनी मनमानी करता रहे और हम उसके अनुसार न चलें, इसे जागृत होकर देखते रहने की बहुत आवश्यकता है। मन के भेद और मर्म कठिन है। वह किसी न किसी रूप में हमें अंधेरे में रखता ही है। (**'जीवनपगरण'**, पृ. ८०-८३)

हमें ध्यान से अधिक से अधिक उत्साह और आनंद मिलता जा रहा है या नहीं उसे अनुभव करते रहें। हमें कोल्हू के बैल की तरह कोल्हू नहीं बनना है। तुम तो व्यापारी हो इसलिए तुम में वह वृत्ति खिली है तो उसका वहाँ उपयोग करो। (**'जीवनपगरण'**, पृ. ४७)

(८) ध्यान में श्वासोच्छ्वास

१. ध्यान में स्वाभाविक रूप से श्वासोच्छ्वास मंद पड़ते जाएँगे और अंत में तो बिलकुल शान्त रूप से चलने लगेगा। यदि ध्यान हम उचित रूप से करते जाएँगे तो प्राणायाम के नियम अपने आप उसमें पालन होंगे। पर अंत में तो श्वासोच्छ्वास बिलकुल लय होने जैसी स्थिति में होगा।

२. ध्यान में झनझनाहट होती है यह गलत नहीं है। गरमी के लिए इरंडी का तेल घिसना प्रारंभ किया? झनझनाहट आदि जो हो उसे होने दो। उसकी परवाह न करें और चित्त को ध्यान के समय उस ओर न जाने दें।

३. ध्यान के समय मात्र ध्यान ही। प्रार्थना करने का मन हो तभी प्रार्थना। जो करते हों उसके भाव को ही प्रधानरूप से बनाये रहें। एक में दूसरे को न घुसने दें।

४. ध्यानावस्था छोड़ने की इच्छा न हो (इतनी लीनता उसमें आ गयी हो) तो दूसरे कार्यक्रम को जाने दें, क्योंकि हमारे सारे ही कार्यक्रम ध्यान की वृत्ति को वेग देने के लिए पर्याप्त हैं। जिस समय कार्यक्रम हमारी वृत्ति को बाधक हो तब हमें कार्यक्रम छोड़ देना है। तद्पश्चात् अंत में, सतेज समाधानवृत्ति होने के बाद, हम सभी कामों में से अपने काम (साधना) करने लग जाएँगें। कोई कार्यक्रम हमारी वृत्ति के वेग को बढ़ाने से अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है। हाँ, ऐसा

d:\pm5\mar
dhyey_dhya
(2nd

कार्यक्रम हो, जिसे न करें तो हमारी वृत्ति को आघात लगे तो उस कार्यक्रम को हाथ से न जाने दें ।

५. वृत्ति का मूल, सोचते–सोचते हाथ लगे । एक में से दूसरे में, दूसरे में से तीसरे में इस तरह उतरते जाएँ यानी मूल का पता लगेगा ही ।

६. जो कोई मथन करता है तो उसे अपनी भूल तुरन्त समझ में आ जाती है, भगवान की कृपा ही उसे जो कुछ करना है, उसे करवाती है ।

(९) ध्यान के लिए समयावधि

ध्यान का समय तीन घण्टे तक ले जाँए । उसे किस तरह करना है यह काम तुम्हारा है । ध्यान में जहाँ तक अधिक रहा जा सके वहाँ तक रहें । अधिक समय (दूसरे काम के लिए) न मिले तो कोई बाधा नहीं । तुम कहाँ किसी से बँधे हो? हमें काम तो करना ही है । पर जैसे कोई वैज्ञानिक एक प्रयोग करने के लिए प्रयत्नशील रहता है । उससे पहले तो उसके ही पीछे सतत प्रयासरत रहता है और जब उसे सफलता मिल जाय उसके बाद उसकी Laboratory (प्रयोगशाला) में मन में आये तभी वह जाता है, ऐसा ही हमारा है ।

'स्मरण स्मरण करते हों एक ध्यान' मेरी तो यही पद्धति है । ध्यान में जाने के लिए जाप पर भार न डालें । हल्का उपवस्त्र हमने ओढ़ा हो और हवा आते ही जैसे वह अपने आप उड़ जाता है, उसी तरह ध्यान में जाने के लिए जाप सहायक रहेगा और लीन होते ही बंद हुआ है या नहीं, उसकी जानकारी भले ही हमें न रहे । इसकी जानकारी रखने के लिए चित्त को ले जाने की आवश्यकता नहीं है; पर चित्त का लक्ष्य तो जब पूर्ण लीनता अनुभव हो तब अंदर की जो consciousness है, चैतन्य है, उसे अनुभव में रखना है । तुम्हें थोड़े समय बाद उस चेतनाशक्ति का सहज धुंधला अनुभव श्रीभगवान की कृपा से हो तो हो; पर आशा न रखें । जो हुआ करें उसे अनुभव करें । हमें तो आनंद से बरते जाना है ।

ध्यान में से उठने के पश्चात् यदि चक्कर जैसा (भँवर) रहा करें तो उससे जाप, धारणा का भाव बहुत गहराई से हृदयस्थ कर बढ़ाते जावें, यह जो होता है (चक्कर जैसा) वह तो लाभ में मिला धन है और उसे तो पूँजी बढ़ाने के लिए ही खर्च करना है । तुम्हें भविष्य में इसमें ही रुचि जाग्रत हो तो जरा भी चिंता

ngaleshwar\
an_hindi.pmd
Proof)

किये बिना पूज्य ...... भाई से अनुमति ले लेवें या दो–एक महिने संपूर्ण मुक्ति ले लेंगे—यदि सारा दिन उसमें बीता सको ऐसा लगता हो और बहुत तमन्ना उसमें बनी रहे तभी ।

जब ध्यान में न हों तब जाप में लगे रहें । पर, ध्यान में कोई भी आग्रह न रखें; यद्यपि प्रारंभ में ध्यान में जाते हुए हरिःॐ हरिःॐ का स्मरण करते रहें, पर वह भी उस पर भार दिये बिना; यानी तुम माँगते हो वैसा ही होगा ।

तुम लिखते हो, 'हृदय पर एकाग्रता से ध्यान रखने से blankness (शून्यता) रखने से मुझे तुरन्त चक्कर जैसा होने लगता है और विचार चले जाते हैं या कम हो जाते हैं और नये प्रकार के आनंद का अनुकम्पन पूरे शरीर में व्याप्त हो जाता है ।' यह सच है, पर इसी में संतोष न करें । जो जो अनुभव हों उन्हें बतालाया करें । पर, कहीं किसी वृत्ति में आनदं भोग ले कर उसमें नष्ट न कर डालें । जो कोई आनंद की वृत्ति हो, चक्कर जैसा लगे या नशा चढ़े, तो उन सबसे हमें मुख्य साधन को वेग देना है, यह ध्यान में रखें । यह जो कुछ मिले है या मिलेगा उसका यदि ज्यों–ज्यों उपयोग किया तो दिवालिया होने की बारी आएगी, यह निश्चित है । किसी भी वृत्ति में संतुष्ट नहीं होना है ।

अब एक दूसरी बात । तुम लिखते हो कि 'blankness रखने से आदि' पर blankness is a state which can be experienced by going into meditation or is a state which can be brought about by mind-control. ध्यान में जाने से अनुभव किया जा सकता है या मनोनिग्रह द्वारा प्राप्त किया जा सकता है, ऐसी एक प्रकार की स्थिति है—विचारशून्यता ।

मन पर के संयम के कारण blankness विचारशून्यता आ सकती है । उसके पश्चात् यदि ध्यान में भी रहे तो ध्यान सुंदर होगा ही; और उसके प्रारंभ की स्थिति में यानी कि इतना या ऐसा नियंत्रण न आया हो उस समय में blankness की स्थिति ध्यान में जाने से उद्‌भव हो सकती है । इसलिए उस विषय में किसी प्रकार भ्रम में न रहें । कहीं कुछ अर्धसत्य स्वीकार न करें । जो कुछ अनुभव हों उन्हें हम ज्ञानपूर्वक अनुभव करते रहें ।

('जीवनपगरण', पृ. ४९-५४)

प्रत्येक दिन ध्यान के समय मन को हल्का ही रखें, जैसे बिलकुल सूक्ष्म उपकरण या दुपट्टा हो थोड़ी हवा आते ही उड़ जाय वैसे; पानी में तैरता फूल हो वैसे । मन को हमें दिन के दूसरे समय में भी इसी तरह रखना है ।

d:\pm5\mar
dhyey_dhya
(2nd

सोते सोते ध्यान करते हैं उस समय हर वक्त पैरों के नीचे से ही कुछ संचार होता अनुभव होता है? या कई बार दूसरे स्थान से भी होता है?

तुम लिखते हो, कि एक दिन ध्यान में एक घण्टा होने पर भी लीनता न आयी। दूसरे संजोग सानुकूल थे, तब भी। तो उसका अर्थ तो यह है कि शरीर में कोई भी विक्रिया उस दिन थी? पर अभी इतने दिन पूर्व की बात तुम्हें कैसे याद रहे? विचार आते हैं और अपने आप चले जाते हैं और टिकते नहीं है यह सब ठीक है; पर इसके विपरित परिस्थिति आये तब भी हमें तो अपनी ही मस्ती में अधिक रहना है।

विचार या ख्याल मात्र आये हों और यदि वह थोड़ी देर टिके तो अभ्यास के कारण पड़ी आदत से उसमें गहराई, भाव, जोश आ जाता है; इसलिए वह विचार बलशाली होता है। जिस विचार के पीछे गति है वह तो उड़ाएगा ही। इसलिए हम में जगे बल को अपने में ही फिर से पुनः हमें ड़ालते ही रहना है और इसप्रकार द्विगुना–तिगुना बनाये रखना है।

हमारा सहवास बढ़े तो अधिक निकटता जरूर लायी जा सकती है, परन्तु वह तो अपने आप बनी रहेगी। यदि शरीर से पास में रहने से ही भाव की वृद्धि होती हो तो इस भाव की मर्यादा बहुत ही कम हो जाएगी। चित्त, मन, प्राण आदि स्थूल को ही पकड़ने की जो आदत हमें पड़ी है, उसके विषय में हमें ऐसा दिल में रहा करता है। पर हमें ऐसा कोई विचार नहीं करना है। जिस समय जो होगा उसी के अनुसार उनकी कृपा से आचरण करेंगे और हम शरणभाव में रहने का प्रेमभक्तियुक्त प्रयत्न करते रहेंगे तो वही भगवान हमें जिस जिसकी जैसी–जैसी आवश्यकता होगी वह सभी देगें ही और जो सीखाना है उसे सुझाएँगे भी।

(१०) ध्यान से भावना वृद्धि

१. जिस भावना को हम बढ़ाते जाते हैं और जिसकी आवश्यकता हमें लगती है, उस भावना को भी ध्यान से बढ़ा सकते हैं। पर उसके कोई hard and fast ढाँचे में बाँधा जा सके ऐसे ठोस नियम नहीं हो सकते। कहाँ तक इस भावना को ऐसे रखना है इसे प्रत्येक व्यक्ति स्वयं समझ सकता है। प्रतिदिन नयी नयी भावना रखने से तो कोई खास फायदा न होगा। इस तरह हमें जो आपत्तिरूप भावना हो उसे sublimate (उन्नत दिशा में परिवर्तित) करने के लिए भी ध्यान का उपयोग हो

ngaleshwar\
an_hindi.pmd
Proof)

सकता है। पर ध्यान के अतिरिक्त समय में उस भावना का ख्याल इस तरह बनाये न रहें कि जिससे हमारे मुख्य काम की (जाप-भाव आदि) वेग-प्रवृत्ति से उसका बोझ और जागृति बढ़ जाय। उस भावना की असर मात्र छायारूप में रहे और उस विषय में हम चिनगारी का काम करें इतना ही।

२. ध्यान के समय लीनता बनी रहे और फिर से चली जाय उसका अर्थ तुम जो करते हो और जिसकी आदत डालते हो वह ठीक है। ऐसी लीनता लगातार बनी रहे इसके लिए ही हम प्रयत्नशील रहें। जब-जब ऐसा भाव लीनता में कम लगे तब हृदय पर ध्यान देकर उसे केन्द्रित करने का प्रयत्न करना है। जिस तरह मन को केन्द्रित किये बिना (दिये की लौ को सकेलित न करें तो उस पर कालिख जम जाती है और बढ़ती रहती है और दिये का तेज कम होता जाता है वैसे केन्द्रित किये बिना) चलनेवाला नहीं है, ऐसा ही हमें प्रत्येक में समझना है।

३. ध्यान में लीनता हो उस समय हृदय पर से ध्यान हट जाय तो उससे लीनता कम न होगी तब भी, ध्यान तो हृदय पर ही रखा करें वही अधिक अच्छा है और ऐसा प्रयत्न हो उसमें कुछ भी गलत नहीं है। यद्यपि पहले मैंने लिखा था कि लीनता रहा करे तो ध्यान भले ही कहीं भी हो, किन्तु उसी के अनुसार करना तुम्हारे लिए अब ठीक नहीं है।

d:\pm5\mar
dhyey_dhya
(2nd

४. कल 'उत्तररामचरित' की बात निकली नथी। उसमें दूसरे रस मिले होने पर भी प्रधानता तो एक ही रस—करुण—की है; इस प्रकार भले कोई भी भावना धारण की हो पर उसकी गहराई में तो जाप होता ही है। जैसे हमारे श्वासोच्छ्वास चला करते हैं वैसे ही इसे हो जाना चाहिए। भाव और जाप दोनों एक साथ रख सकते हैं रखना उचित भी है।

५. 'आपके प्रति श्रद्धा, प्रेम तथा तमन्ना, सरलता, निर्दोषता, प्रेम का जोश आदि भावों को रखना उचित है या नहीं?' रखें तो कुछ भी गलत नहीं है। पर वह श्रद्धा के साथ होने चाहिए। उसके पीछे भाव का प्रतिघोष प्रेम ही होना चाहिए। उसके पीछे का जैसा उद्देश्य होगा वैसा ही उसका रूपान्तर होगा।

६. जैसे ध्यान में बिलकुल विचार नहीं आने चाहिए, परन्तु वैसा अचानक नहीं हो जाता, बहुत अभ्यास के बाद साध्य हो पाता है। पहली पाँच मिनिट भले ही प्रारंभिक तैयारी की हों, उसमें कोई आपत्ति नहीं। आदर्श के अंतिम छोर पर एकदम नहीं पहुँचा जा सकता है। इसके लिए तो सतत सावधानीपूर्वक अभ्यास की आवश्यकता रहेगी।

७. 'लीनता में जाप चला जाता है' इसलिे हमारी तब चेतना की मात्र स्थिति बदलती है। वैसी प्रत्येक चेतना की कक्षा में हमें उसमें घुल नहीं जाना है। यदि घुल गये तो हमारा विकास वहीं से रुक जाएगा।

जाप तो हृदय की प्रत्येक धड़कन के साथ एकाकार हो जाना चाहिए और हृदय की धड़कन के साथ समा जाना चाहिए। जैसे-जैसे वह स्थिर होता जाएगा और उसमें पूरा भाव आता जाएगा वैसे-वैसे हृदय की धड़कन के साथ मिल गया है, लगेगा।

८. खुराक के विषय में तो अत्यन्त खारा, खट्टा और तीखा न हो तो अच्छा, बिलकुल सरलता से पच सके ऐसा लें तो ठीक। सामान्य रूप से सभी लोग जैसा खाते हैं वैसा अर्थात् हमारे दैनिक खुराक में थोड़ा बहुत अंतर लाने में कोई आपत्ति नहीं। स्वाद की दृष्टि से कुछ भी नहीं खाना है।

९. खुराक, वातावरण, संगति, अभ्यास, स्थल आदि की असर होती है सही, पर मुख्य रूप से तो हमारी ही तमन्ना और जिज्ञासा का ही मुख्य योगदान होता है। चित्तशुद्धि के लिए निरासक्त भाव से कर्म करते रहें तो हमें बहुत लाभ प्राप्त होता रहेगा। जैसे हम से भावपूर्वक आगे बढ़ा जाएगा वैसे ही अन्य पर भी उसकी असर आए बिना नहीं रहेगी। हमें बाहर के दूसरे किसी साधन को कोई महत्त्व नहीं देना है। हमें तो इष्ट ध्येय को ही महत्ता देना है। उसमें जैसे-जैसे 'जीव' गहराई में उतरता जाएगा, लगनी-रस लगते जाएँगे, वैसे-वैसे सब अपने आप हमें जो कुछ समझना है समझ में आता जाएगा।

१०. जप सुंदर और सात्त्विक ढंग से अंदर चला करे वही अच्छा। किन्तु जैसे आदर्श को एकदम प्राप्त नहीं किया जा सकता और धीरे-धीरे ही कदम बढ़ा कर चला जा सकता है—उसी तरह पहले कुछ समय जिस रास्ते से वहाँ पहुँचने की संभावना लगती हो उसी रास्ते जाना चाहिए। फिलहाल तो जीभ हिलाते रहेंगे तो आपत्ति नहीं, किन्तु उसके ध्येय को कभी भी भूले बिना करें। यांत्रिक, जड़ आदत तभी पड़ती है, जब उसके मूल उद्देश्य को हम भूल जाते हैं।

११. हमारे अर्थ में 'धारणा' यह तो अमुक कर्म में से परिणाम प्राप्त करनेवाली असर है। मुख्य तो हृदय की धड़कन के साथ जप हुआ करे और यह आवश्यक है कि वह खूब भावावेश के साथ हो। यह जानो कि ध्यान के समय हमारे चित्त का ध्यान हृदय पर हो, यह आवश्यक है।

ngaleshwar\
an_hindi.pmd
Proof)

जगत के व्यवहार में इतने तो प्रश्न उठते हैं कि उन सभी का समाधान हम करने बैठें या करने जाएँ तो हम उसमें ही उलझे रहेंगे ! पर कोई सवाल मन में उठे और यदि उसका समाधान न करें तो वह उलझन जैसे की तैसी पड़ी रहेगी । इसलिए जहाँ तक हो, उसका समाधान करने का प्रयत्न करें, जिससे मन में कुछ न रहे । हमें जगत के प्रति बेपरवाह नहीं बनना है और ऐसी वृत्ति भी नहीं रखनी है । ऐसा ख्याल भी दिल में नहीं होना चाहिए, किन्तु हमारे पास जो काम है, उस काम को हम किस तरह पार उतारते हैं उसमें ही, उस तरह, उतने अनुपात में, हम जगत का समाधान करते हैं । तब भी कोई भावना अधिक देर तक मन में रहा करे तो उस भावना को दूर करने के लिए प्रार्थना कर लें । अथवा तो उसे जिस ढंग से संतोष कर सकते हैं, उस तरह से उसके हल के लिए हमें प्रयत्न करते रहना है ।

जब सोने की स्थिति में ध्यान करना होता है, तब तंद्रा आ जाने की संभावना रहती ही है । किन्तु यदि हम उस समय से पहले मन को एकाग्र कर पायें और एक रस भाव से डूब जाएँगे तो तंद्रा नहीं आएगी, क्योंकि वह तन्द्रा मन के बिलकुल बाहर या ऊपर के स्तर पर ही बसती है या असर करती है । मनुष्य सोता हो तब भी अंदर अपने में डूबा रहता है, परन्तु वह हमारे लिए अभी उपयुक्त नहीं है ।

d:\pm5\mar
dhyey_dhya
(2nd

विचारों के भँवर में बह जाओ तब जानो कि हमारा मन द्विधा में है और उसकी एकाग्रता कम हुई है; इसलिए ही नहीं पर रसवृत्ति का स्थान अंदर से बाहर फिरा होना चाहिए । ऐसा हो तब हमें अपना पृथक्करण कर लेना चाहिए । तब भी (ऐसा अनेक बार होता है) न समझ में आए तो भगवान को अपनी असली भावदशा बढ़ाने के लिए प्रार्थना करनी चाहिए और उसे प्राप्त किए बिना चैन से न बैठें और उस विषय में लगे ही रहें । **('जीवनपगरण', पृ. १२५-१३१)**

(११) साधन के प्रति आग्रह

हमें अपने साधन के प्रति तो आग्रह रखना ही है । उसके प्रति तो सौ प्रतिशत आग्रह रखना है । ध्यान के समय संकल्पशक्ति को काम में लगाना चाहिए । हमें एक के प्रति आग्रह रख उसके अलावा सभी के प्रति अनाग्रहवृत्ति रखनी है । इसके अलावा जिससे हमारे साधन में भाव बढ़े उसके प्रति भी हम में रुचि बनी

रहे यह स्वाभाविक है और उचित है। हाँ ! जरूर आगे जाने पर साधक की एक ऐसी स्थिति आती है कि जब उसे जीवन या जीने के प्रति आग्रह भी चला जाता है, छूट जाता है। किसी के प्रति तब आग्रह नहीं रहता। पर यह वृत्ति हमारे लिए अभी जरूरी नहीं है।

फोटो के विषय में तुम्हें विवरणपूर्वक लिखा था। हमें जो कुछ करना है, वह ज्ञानपूर्वक श्रद्धा से करना है। जाने-अनजाने भी इससे अंध श्रद्धा बढ़ना संभव है। इसके पीछे की तुम्हारी गहरी प्रेमवृत्ति मैं देख सकता हूँ। जितनी आँख पास हो वह हृदय के निकट होती है ऐसा सामान्य रूप से कहा जाता है। पर वास्तविकता ऐसी नहीं होती। तुम स्वयं ही जरा इस विषय में गहराई से पृथक्करण करोगे तो तुम्हें स्पष्ट पता चल जाएगा।

तुम ध्यान के विषय में विवरण सहित लिखते हो उसमें कुछ भी गलत नहीं है। मात्र अपने में उसका भान न रहने दें या मन में या चित्त में ऐसा न रखा करे कि ऐसा-ऐसा हो तो ही अच्छा या खराब हुआ। जो कुछ तब अनुभव करो—प्रकाश, आवाज या रम्य दर्शन हों—उसमें जरा भी मन न लग जाय इसकी सावधानी हमें रखनी है। जब-जब लीनता और एकाग्रता लगे तब गहरे-गहरे उतरते जाँए और जहाँ तक संभव हो वहाँ तक भगवान के भाव का ख्याल रखें। यह भी उड़ जाए तो उड़ जाने दें और क्या हो रहा है उसे तटस्थतापूर्वक देखते रहना है।

'भगवान का भाव' अर्थात् क्या? ऐसा शायद तुम्हें होता होगा, जैसे हमें कोई अत्यन्त प्यारा होता है और उसका स्मरण होते ही एक प्रकार का प्यार हम में उभर आता है ऐसा—पर अनेकगुना—प्यार हमें भगवान के प्रति हृदय में तब रहना चाहिए। उनके प्रति अतिप्रेम हममें विकसित होना चाहिए।

इसी प्रेम को विकसित करने के लिए ही वैष्णव सम्प्रदाय में उसकी निजी पाठपूजा, सेवा और भजन-कीर्तन हुआ करते हैं। 'आत्मनिवेदन' की प्रथा भी इसलिए ही है। जो कुछ बने, हो रहा हो इच्छा स्फुरित हो, जैसा होना हो, जो चाहिए, माँगना हो—यह सब हम 'उसे' ही कहा करना है। कोई दलील करे कि इससे क्या होनेवाला है? हम जब अपने मित्र या स्नेहिओं को अपनी कठिनाइयाँ, परेशानियाँ, उलझनें कह डालते हैं, तब हमारा दिल एक प्रकार से हमें हल्का हुआ नहीं लगता? मित्र कोई दुःख ले लेता है? नहीं, पर उसकी भावना, प्रेम और सहानुभूति की भावना हमारे साथ मिलती है, इसलिए हमें हल्कापन लगता है। तो भगवान तो मित्र से भी अधिक है न?

ngaleshwar\
an_hindi.pmd
Proof)

इतना ही नहीं हम जो कुछ भी किया करते हैं उसमें उत्साह होना चाहिए। उमंग, साहस, इसमें बहुत जरूरी है। कहीं भी 'मिकेनिकल' (मशीन की तरह) नहीं होना चाहिए। यह सब करते हुए कहीं भी 'यह कर रहे हैं' ऐसा ख्याल भी न आए इस तरह से यह सारा स्वाभाविक रूप से सहज ढंग से करना चाहिए और समर्पण करना चाहिए।

ध्यान के बाद तुम्हें हाथ पैर के अस्तित्व का ख्याल चला जाता है, इसका कारण है कि ये सारे भाग एक ही स्थिति में रहा करने से ऐसा होता है।

मन को एकदम शान्त रखना, यह कठिन है। इसलिए गीता में अर्जुन भगवान से पूछते हैं कि, 'मन को वश में रखना हवा को वश में रखने जितना कठिन है। इसलिए हे भगवान ! मुझे इसका उपाय बतलाओ।' ऐसे मन को 'अभ्यास' और 'वैराग्य' इन दोनों से वश में ला सकेंगे। (ऐसा उत्तर श्रीभगवान देते हैं।) 'वैराग्य' यानी प्रत्येक में जब-जब मन जाए तब-तब उसे उसमें से बाहर खींचकर लाना अथवा मेरी समझ अनुसार तो उसका अर्थ अधिक गहरा है। प्रत्येक बात में उसे ऐसी आदत डालें कि वह रुचि न ले यानी किसी में भी उसे राग न रहे या राग न हो ऐसी परिस्थिति में उसे रखे रहना अथवा हम स्वयं ही उसके ऊपर बने रहना सीख लेने की आदत डाल दें। ऐसा तभी हो सकता है यदि मन को हम एक में ही (भगवान में ही) पिरोये रहने की आदत डालें। पहले पहले तो बहुत आलस्य आएगा और मन विरोध करेगा, पर हम उससे सतत मित्रता रखें और प्रेम से उसे बटोरें, टोका करें और वह भी रचनात्मक ढंग से तो हमें वह अवश्य मददरूप होगा।

'उस' पर बहुत प्रेम-आस्था बढ़ाते जावें। किसी भी परिस्थिति में, विपरित संयोग में भी, 'उस' पर का भरोसा हमें सदा रखना है।

('जीवनपगरण', पृ. ९१-९४)

तुम्हें जो लिखा है, वह बिलकुल उचित है ! तुम्हें एक महिने तक लगातार करते रहना है। नया लगे और अनुभव हो तभी लिखें, नहीं तो नहीं। मन को स्थिर करें और उसकी तुला शान्त रखने के प्रयत्न में लगे रहें। भावपूर्वक, ज्ञानपूर्वक प्रयत्नशील रहना है। **('जीवनदर्शन', पृ. १२६)**

d:\pm5\mar
dhyey_dhya
(2nd

(१२) मन की स्वस्थता

तुम मन की स्थिति के विषय में ब्यौरेवार लिखते हो, वह गलत तो नहीं है; पर मन का बोझ सारा उतर जाय तो इससे सारा मैल निकल जाता है ऐसी मान्यता मात्र भ्रम है । निकल गया तो तभी गिना जाएगा कि उस विषय के कोई संस्कार या विचार, वृत्ति, रुख कभी भी न जागें । तुम मन में मन से आवेग के साथ जो विचार परम्परा जगाते हो अथवा तो जगते हैं, वह उचित नहीं है । ट्रेन का समय हो गया हो तब जैसे कोई एक मनुष्य गाड़ी पकड़ने के लिए हक्का-बक्का होकर जैसे तैसे तैयारी करे और दूसरा कोई अंदर की समतुला बनाये रखकर हड़बड़ी करे तो इन दोनों स्थिति में फर्क है, उसी तरह हमें शांति, स्वस्थता, धीरज आदि प्रकार की समतुला बनाने के लि प्रयत्न करने पड़ेंगे । हम स्वयं जो कुछ करें उसे दिल देकर करें वह सही है । परन्तु तभी दिल दिया गिना जाएगा कि जिसमें अडिगता, दृढ़ता, निश्चय, भावना आदि हो । कर्म में हक्का-बक्कापन, बावलापन कभी भी न आने दें । हमारी प्रकृति और स्वभाव द्वारा वैसा होता हो तो वह दोष है । उसका स्वीकार प्रकृति और स्वभाव के पास कराने की खास जरूरत है । पूरे उत्साह, उमंग, धीरज, निश्चय से जितना बने उतना किया करें । ऐसा करते हुए पूर्ण प्रेमभाव और दिल पिरोए हुए होने चाहिए । परन्तु उसके साथ-साथ उसके परिणाम के लिए अधीर, चंचल या अस्वस्थ न हो जाँए ।

जैसे-जैसे मन की अनेक विचार परम्पराएँ अटकती जाएँगी और शान्त होते जाएँगे, वैसे-वैसे श्रीभगवान की कृपा अविरत होती जाएगी, उसका अनुभव प्रत्यक्ष रूप से होगा । बिना काम का संताप और मिथ्या दोड़धूप नहीं करनी है । तुम्हें याद है कि एक बार तुमने कहा था कि तुम्हें बहुत वर्षों पहले दो साध्वी बहनें मिली थी; उनकी तरफ जरा भावपूर्वक तुमने देखा था, इसलिए थोड़ी देर बाद उनमें से एक ने अपने आप तुमसे कहा, 'मौन रखें; शक्ति बढ़ जाएगी' वह मौन स्थूल रूप में मूक रहना नहीं है । यह मौन यानी तो वर्तमान में विचारों की खलबली, प्राण के प्रचण्ड बवंडर (आँधी तूफान), बुद्धि में शंका, संशय और अनिश्चितता के परिणाम से जन्म लेती बेचैनी, संस्कारों का उभरना और अहम् की जोरदार जीवदशा की प्रेरणाएँ—इन सभी से मुक्ति प्राप्त करना ही मौन है । प्रभुकृपा का आविर्भाव इस प्रकार की नीरवता की भूमिका में ही हो सकता है, यह निश्चित मानें ।

ngaleshwar\
an_hindi.pmd
Proof)

शरीर निर्बल है ओर वह अच्छा होता तो ऐसा करता, ऐसा होता और वैसा होता ऐसी उथलपुथल करवाते विचारों से भरा शरीर के विषय की झंखना भी तब अधिक समय तक नहीं करनी है। झंखना तो रखें, परन्तु उस ध्येय के प्रति। शरीर के कारण काम रुक सकता ही नहि। पहले से तो शरीर तुम्हें अच्छा काम दे रहा है, उसे तुम मना नहीं कर पाओगे। ध्येय को प्राप्त न कर सकने का एकमात्र कारण यदि शरीर हो तो रोगी, दुःखी, बीमार कभी भगवान को भज ही न सकेंगे ! पर, ऐसा नहीं है.... हमारी जीवदशा के स्वभाव और प्रकृति का आवरण अर्थात् जो कोई शुद्ध आत्मतत्त्व का प्रकाश डालने में हमारे अंदर पर्दारूप हैं। उसके अनेक लक्षणों में से या आविर्भावों में से एक लक्षण उस व्यक्ति का शरीर है। जैसे उसकी प्रकृति और स्वभाव के लक्षण तथा आविर्भाव उसकी बुद्धि, उसका मन आदि हैं, वैसे ही उसका शरीर भी है। इस प्रकार देखते और समझते ध्येय प्राप्ति के जो अवरोध आते हैं, वे तो प्रकृति और स्वभाव के हैं और शरीर तो उस प्रकृति और स्वभाव का अंग मात्र है। इसलिए प्रकृति और स्वभाव ऊर्ध्वगामी हो वही हमारा महत्त्वपूर्ण कर्म है। हमें जो संभालना है, वह अंदर के करणों को—मन, बुद्धि आदि को। आंतरिक करण जब चेतना के प्रकाश से आलोकित होते हैं, तब वे सभी करण उसका (चेतना का) अनुसरण करने लगते हैं। ऐसी भूमिका में शरीर भी उसे अनुसरण करने लगता है। इसी से 'शरीर के कारण कुछ नहीं होता', ऐसा न मानें, परन्तु हमारी स्वयं की प्रकृत्ति और स्वभाव इस प्रकार के हैं। इसके कारण प्रगति नहीं होती, उसकी चेतना हमेशा बनाये रखें। शरीर प्रकृति और स्वभाव के वश है। वह प्रकृति और स्वभाव का अनुसरण करता है। जीवदशा के मनुष्य मात्र का ऐसा होता है। आलस और प्रमदा के कारण शरीर नहीं चल सकता। ६ जुलाई, १९३९ के दिन तुम्हारा प्रथम अनुष्ठान हुआ। तब मैंने तुम्हें कहा था, 'घोर तामस की स्थिति है।' तब तुम्हें अत्यधिक आश्चर्य हुआ था। परन्तु सही वास्तविकता तो यह है कि शरीर की स्थिति के कारण प्रगति में बाधा नहीं आती है। प्रगति में रुकावट आती है केवल स्वभाव और प्रकृति के कारण ही।

अलबत्त, जो जागा हुआ चेतन पुरुष है, उसका शरीर भी उसकी जागृत चेतना को प्रगट करता है। परन्तु ऐसे चेतन पुरुष, शरीर से रोगी हो तब भी आत्मानुभव की मुक्त या आत्मनिष्ठ दशा में वैसा चेतन पुरष हो सकता है। उसका शरीर रोगी होने के कारण साधारण मनुष्य के रोगी होने के कारणों से भिन्न हो सकता है।

d:\pm5\mar
dhyey_dhya
(2nd

आत्मस्थिति या आत्मनिष्ठा की कक्षा अर्थात् चेतन की पूर्णता का आविर्भाव। उसके पश्चात् भी ऐसे चेतन पुरुष का विस्तार सहज रूप से होता ही रहता है। वैसा चेतन पुरुष या मुक्तात्मा उसके शरीर के पार्थिवपन से तो मुक्त हो ही गया होगा; यानी कि नीरोगी या रोगी शरीर में वास करते रहने पर भी वह सर्वभाव से विस्तरित होता जाता है। शरीर का नीरोगी होना या लम्बा टिकना, वह आत्मस्थिति का मापलक्षण नहीं है। आत्मतत्त्व अवर्णनीय है, तब भी उसे वर्णित करें तो सबसे परे ऐसा सूक्ष्मातिसूक्ष्म और स्थूलातिस्थूल तत्त्व है। जब कि जीवदशा में चेतन है तो सही; पर उस जीवदशा का जो शरीर है उसमें जो चेतन है वह तो मल, विक्षेप, आवरण से आच्छादित हुआ है। ऐसे कारणों द्वारा आत्मतत्त्व के आविर्भाव-पाने की संभवाना, स्वभावतः ऐसे मल विक्षेप से आच्छादित शरीर हो, वहाँ नहीं है। चेतना में निष्ठा प्राप्त आत्माओं को शरीर का बंधन नहीं है। शरीर की मर्यादा उन्हों ने स्वीकारी है सही, परन्तु प्रसंगानुसार शरीर की मर्यादा को भी वे हटा सकते हैं। ऐसों को शरीर होने की अनिवार्यता भी नहीं है। इससे शरीर टिका रहे ऐसी चाहना भी उन्हें नहीं होती।

यह सब तो अभी तक की कहानी है। इसमें से प्रस्तुत तो इतना है कि शरीर आत्मतत्त्व के प्रगट होने से या विकास में बाधक हो ऐसा नहीं है। यदि वह बिगड़ने लगे तब वास्तविकता तो उस मनुष्य की समग्र प्रकृति का एक करण या अंग रूप है। इस तरह से तो उसकी प्रकृति और स्वभाव ही बाधक हैं, नहीं कि शरीर। अंतर के मनादि करणों की तरह शरीर तो एक करण—साधन—है। किसी की प्रकृति और स्वभाव शरीर द्वारा बाधक होते हैं, तो किसी की बुद्धि द्वारा और किसी के प्राण द्वारा बाधक होते हैं; परन्तु बाधक उनका शरीर या बुद्धि या प्राण है ऐसा नहीं है। वास्तविक रूप से बाधा रूप उसमें समग्र प्रकृति और स्वभाव है। इसलिए उस पर ही हमें विशेष लक्ष रखना है, उसे ध्यान में रखें। (**'जीवनदर्शन', पृ. १३६-१४०**)

तुम्हारे ध्यान का अनुभव जाना ! कितने भी कठिन अनुभव हों—जले जा रहे हों—तब भी ध्यान में से उठना नहीं है। उसमें तो अचल और स्थिर रहें ! आसन अदलबदल न करें। पहले बैठते समय ही जिस प्रकार का सुखासन पसंद है, वह लें और फिर तो अंत तक उसमें ही रहें। किसी भी हालत में बदलना नहीं है, भले कुछ भी हो जाए। पीछे से ध्यान पूरा होने पर, कमर या जहाँ दुःखता हो वहाँ मालिस करने का रखें और उसे अवश्य करें। शरीर की संभाल रखनी है किन्तु ध्यान के समय नहीं। इस बात पर अडिग रहे। श्वास धीरे हो जाता

ngaleshwar\
an_hindi.pmd
Proof)

है और ध्यान लम्बा रखने की इच्छा रहती है तो वह तम्बा करते ही रहें और जहाँ तक सरलता से, आलस्य न आए और रुचि बनी रहे ऐसा रह सके वहाँ तक ध्यान बनाये रखें । समय कहाँ से निकालें यह खोजना मेरा काम नहीं है । वह काम तुम्हारा है ।

जाप का काम क्यों ढीला हो ? जिस प्रकार का ध्यान करे तो उसमें से तो बहुत ही तरंगे, शक्ति और आनंद प्राप्त होना चाहिए; तो उससे तो जाप अच्छा ही चलना चाहिए । जाप में प्रत्येक दिन (हरि:ॐ के) 'हरि:' बोलने में हमें उमंग बढ़ती चली जानी चाहिए ।

हमारा मन ऐसा है कि उसे जो करना है उस ओर की दलील तो इतने सुंदर ढंग से प्रस्तुत करेगा कि क्षणभर तो वह सच्चा है ऐसा मान लेने का मन होगा; पर हमें बहुत सोच-समझकर चलना है ।

तुम्हारे लिए कोई भी कुछ माने या मैं कुछ भी मानूँ, इसके लिए तुम्हें कोई भी परवाह करने की आवश्यकता नहीं है । तुम्हें अपने mission के लिए (प्रभु द्वारा आदेश दिए जीवनकार्य के लिए) लगन उत्पन्न हुई है या नहीं ? यदि हुई हो तो वह सही और उचित रास्ते पर जा रही है या नहीं? यही महत्त्वपूर्ण है । 'सही और उचित रास्ते' का कैसे पता चलेगा ? यदि हम अधिक से अधिक प्रभु परायण रह सकते हों : आगे पीछे के वातावरण से और प्रसंगो से अलिप्त रह सकते हों : मन अधिक लेनदेन में न पड़ता हो : 'अपने में ही हम भले' ऐसी वृत्ति रहा करती हो : और भगवान के सामने हम कुछ भी नहीं है । हम तृणवत् भी नहीं है, मात्र शून्य हैं, ऐसा हुआ करता हो : उसकी शरण में ही ले जाने हेतु और बार-बार कहा जाता हो तो हम ठीक रास्ते पर हैं, ऐसा समझना है ।

d:\pm5\mar
dhyey_dhya
(2nd

हमारे संबंध भी भगवान के भाव प्रगट करने के विषय में यदि दृढ़तर होते हों तो आनंद से बढ़ने दें और यदि ऐसा सत्य सिद्ध न होता हो तो उस सम्बन्ध को भी प्रेम से हमें दूर रखना है ।

गंभीर होते हुए भी हमें प्रसन्नचित्त तो रहना ही चाहिए, हमारे हलनचलन में स्फूर्ति और मुख पर प्रसन्नता होनी चाहिए न कि मुँह लटका हुआ हो ।

नित्य स्मरण की सूची देखी; वह वहाँ (पूजा के कमरे में) रखी है, वह ठीक है । स्मरण करने में या दिन में तीन बार देख जाने में इसकी इति कर्तव्यता नहीं है । इसे तो तुम समझते ही होगे । साथ ही जितना जोश, भाव और तमन्ना हमारी होगी उतना ही अच्छा परिणाम हमें मिलेगा ।

ध्यान में तुम्हें जो एकाग्रता प्राप्त होती है और लीनता आ जाती है, उस समय तुम अभी भी गहराई में उतरने का प्रयत्न करो; और फिर मन, हृदय, चित्त और प्राण इन सभी से परे ऐसी कोई inner consciousness (अंतरचेतना) के भाव का तुम्हें अनुभव होता है सही या कैसे होता है, इसे देखें। यदि तब कुछ पकड़ में आया हो तो साधना में एकदम तीव्र प्रगति आ जाएगी और बहुत लाभ होगा। पर, कल्पना द्वारा उसे पकड़ना नहीं है तथा वैसे ही ऐसा आभास होता हो उसे भी सत्य रूप में ग्रहण नहीं करना है। मन की लीला भी भारी है। जो सत्य है उसे वह असत्य समजता है और असत्य है उसे सत्य; ऐसी इसकी स्थिति है।

इसी कारण से इस positive creative force (विधायक सर्जनात्मक शक्ति) का अनुभव प्रत्यक्ष कर्तव्य क्षेत्र में उतरकर सर्वांग रूप से अनुभव हो वहाँ तक हमें ध्यान से हठना नहीं है। 'हे मनवा ! खोज कर तो मिलेगा।'

('जीवनपगरण', पृ. ५८-६०)

(१३) ध्यान के विषय में विशेष

ngaleshwar\
an_hindi.pmd
Proof)

ध्यान, मात्र शान्तरूप से बैठे रहने के लिए ही नहीं है। मन को मूक करने के लिए ध्यान बहुत सहायता करता है। यह तो उसका तत्काल लाभ है, वैसे ही अंतर्मुख होने पर वह हमें मार्ग बतलाता है तथा हम मन से परे हैं यह तब हमें समझ आता है। **ध्यान यानी हमारे आंतर्तत्त्व की खोज।**

बहुत उग्र ऐसे हल्के ध्यान में मन की चालबाझी भी हम जान सकते हैं। ध्यान से हमें अधिक शक्ति, आनंद और नूतनता मिला करती है। इसके अलावा हमारे दृष्टिकोण में भी वह धीरे-धीरे अंतर लानेवाला होता है। आत्म-विश्वास और श्रद्धा को वह अधिक दृढ़ करता है यह फायदा तो है ही, पर सबसे महत्त्वपूर्ण उसका मूल उद्देश्य तो अंदर (आत्मा) की खोज के लिए है।

वह अंदर का तो तभी प्राप्त होगा जब हम बिलकुल निराग्रही, निरासक्त, निरभिमानी हो जाएँगे, तभी मिलेगा, उसके बिना नहीं। हम अपने मान लिए गये धारणा बनाये हुए, कल्पित किये मापदंड, मताग्रह, बंधन, समझ, दृष्टिकोण, अनुभव, ख्याल, विचार, वातावरण, समाज और समाज की प्रत्यक्ष असर—इन सभी को छोड़ देंगे; इतना नही नहीं पर इससे भी परे जाकर हम रह सकें ऐसा होने लगेंगे तभी अंदर की वस्तु समझ में आने लगेगी।

हमें ऐसी आदत पड़ गई है कि कुछ हुआ कि जल्दी से उस पर मत या अभिप्राय बना देने के लिए तैयार हो जाते हैं। मन की यह दशा हमारे लिए अच्छी नहीं है, इतना ही नहीं, परन्तु अवरोध करनेवाली है । जो कुछ हो भले हुआ करे । हमें उसमें मत या अभिप्राय कुछ भी बना लेने के लिए ललचाना नहीं है। जहाँ जहाँ अथवा जब ऐसा हो कि तुरन्त मन को रोकें। ऐसा सतत ज्ञानपूर्वक प्रयत्न करना है ।

दिन के दूसरे समय में भी जाप-धारणा में वेग, उत्साह अत्यधिक बनाये रखने के लिए प्रभुकृपा से प्रयत्नशील बने रहें ।

यह जमाना बुद्धि का है; इसलिए जहाँ तक बुद्धि से कुछ समझ में न आए या न ग्रहण हो तब तक हम समझदार लोग कदम उठाने के लिए मना करते हैं। पर इस जमाने में हम कैसे अंधे, मूर्ख बने हैं इसका पता भाग्य से ही लोगों को होगा। इसलिए अब बुद्धि से कुछ समझाने का प्रयत्न भी कर सकें तो करूँ—यद्यपि मुझ में इसका अल्पांश भी नहीं है। 'Like attracts like.' (**समानशील व्यसनेषु सख्यम्**) यह तो प्रचलित बात है। इतना ही नहीं रेडियों का आकर्षण जहाँ रेडियों जैसा यंत्र लगाया गया होगा वहीं होगा। अन्यत्र नहीं। इसलिए हम like (भगवान के अनुकूल) हो तो ही हम आकर्षित हो सकते हैं। यह तो 'एक और एक दो' जैसी बात है। यह तो गले उतर जाय ऐसा है। इसलिए हमारा सारा प्रयत्न उस like के साथ तद्रूप होने में ही लग जाना चाहिए। जितनी दूसरी तरफ जाएँगें उतनी बेकार कोशिश होगी और शक्ति को उल्टे मार्ग पर ले जाएगे। यह तो ऐसा होगा कि हम साइकल पर बहुत जोर से जा रहे हों और उसमें कुछ बलशाली टकराये तो भी हम धड़ाम से साइकल पर से गिर जाएँगे; वैसे इसमें भी जाने अनजाने मार्ग से अलग होना हमें भारी मुकसान करता है।

उस मार्ग से हमें अलग करानेवाले अनेक ढंग मिल जाते हैं। यदि हम जाग्रत न रह सकते हों तो मन ही हमें भटकाता है; वह नहीं तो हमारा अहंकार vanity-मिथ्याभिमान हमे पछाड़ता है । खूबी तो यह है कि हम मानो कि सीधे रास्ते पर ही हैं ऐसा वह लगाते रहता है इसलिए इन सब से सावधान रहना है, वह संभले रहें। भगवान की प्रार्थना इसके लिए अति आवश्यक है। इसके साथ निजी संबंध खूब बढ़ाया करें ।

खूब नम्रता बनाये रखें, भले कोई उल्टा अर्थ करे । संपूर्ण शून्य हुए बिना हम कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकते। मैं तो कहता हूँ कि हम एक समय तो अपने मन की लीलाओं को नीरखने हेतु तो पर थाओ । इतना होने पर भी छक्के छूट

d:\pm5\mar
dhyey_dhya
(2nd

जाँय ऐसा है । पुरुषार्थी और लग्नशील के लिए कुछ भी कठिन नहीं है क्योंकि बाद में वह जैसे-जैसे कदम उठाते जाएगा वैसे-वैसे उसे उसमें रुचि बढ़ने लगेगी और वह रुचि ही बाद में उसे रास्ते पर रखा करेगी । पर वह रुचि हमें अपने में से उत्पन्न करानी है ।

ध्यान में शून्यता के periods (समयावधि) होते हैं वह तन्द्रा है क्या ? ऐसा तुमने पुछाया है । उस विषय में इतना लिखना है कि जब सब dull (सुस्त–प्रमादकता) लगता हो तो तन्द्रा समझें और यदि शून्यता होने पर भी चैतन्य लगे तो वह तन्द्रा नहीं है । तब मन का साक्षीपन काम करते हुए लगेगा ही । ध्यान की शून्यता में भी जड़ता नहीं होनी चाहिए । जड़ता हो तो तन्द्रा समझें । ध्यान में होते हो तब पैरों में या किसी जगह भारी दर्द हो रहा हैं, ऐसा अनुभव होता है, पर उसे वश न होना । यह तो तुम्हें ध्यान में से छुड़वाने के प्रयत्न है । तुम अपनी स्थिरता से, प्रेम भाव से सब कुछ करते रहो । सही आनंद तो तब आएगा जब उस तरफ तुम्हारा ध्यान भी न जाए ।

१. ध्यान के अंत में प्रार्थना जरूर हो सकती है ।

२. प्रार्थना के समय चित्त या ध्यान हृदय पर रखें ।

३. जिस दिशा की ओर मुखकर बैठने से तुम्हें अधिक तल्लीनता आती हो, वैसा करें ।

४. मुख्य साधन, जाप, धारणा, शरणभाव और समर्पण है ।

अब तुम ऐसा करना कि कोई अच्छी फिल्म कंपनी का कोई अच्छा चित्रपट आए तो उसे देखने जाना और वहाँ अनुभव कर देखें कि उसमें ध्यान जाने पर भी कितनी बार जाप टूटता है और जाप भावमय कैसा रहता है ! सिनेमा देखने जाने में संकोच न रखें । यद्यपि तुम्हें ऐसा होगा मैं समझता हूँ ; पर हमें भाव के विकास हेतु प्रवृत्ति में संकोच नहीं रखना है । फिर मुझे लिखते रहें । खूब लहर में रहो और सर्व शक्ति, उत्साह, आनंद, प्रेम हमारे काम के पीछे ही खर्च हो उसका सतत ध्यान रखें....... (**'जीवनपगरण'**, **पृ. ६०-६४**)

(१४) ध्यान के लिए विशेष

उसने दी सुख सुविधाएँ, जिंदगी का आनंद लूटने,
उसने दी सुविधाएँ सभी, हृदय बहलाने ;
उसने दिए कैसे मन, हृदय औ' चित्त उदात्त !
नित्य ही ऐसे प्रिय प्रभु का बहुत आभार मानो ।

ngaleshwar\
an_hindi.pmd
Proof)

१. ध्यान अंतर्गत आसन नहीं बदलना चाहिए । जब ठीक न हो अथवा आराम के साथ सरलता से उसे करना हो तब सोये-सोये भी हो सकता है। सोये-सोये पलथी लगाकर करना अच्छा; बाकी लम्बे पैर कर अंगूठे से अंगूठा मिलाकर भी हो सकता है ।

२. ध्यान के लिए आसन की आवश्यकता प्रारंभ में ही रहती है। तद्पश्चात् जब साधक उसमें डूब जाता है, उसमें वह संपूर्ण लीन हो जाता है, तब किसी प्रकार के आसन की उसे आवश्यकता नहीं रहती है, पर ऐसी स्थिति से पूर्व आसन की आवश्यकता उसे रहती है। अपनी प्रत्येक आदत से हमें अपनी will power (संकल्प शक्ति) कैसे बढ़े इसे देखकर अपना काम निश्चित करने का रखें ।

ध्यान में से चेतनाशक्ति का प्रवाह सार्वत्रिक बहता अनुभव होता है वह सही है ; पर यदि ऐसा हो तो जिसे हम inner consciousness—अंतरचेतना कहते हैं, उस शक्ति का कुछ धुंधला अनुभव हमें होना ही चाहिए । कितनी ही बार वह अनुभव होता है हृदय के मध्यभाग में से, कितनी ही बार ब्रह्मरंध्र से और कितनी बार पैर के अंगूठे में से भी ।

पर हमें इन सब को कुछ भी महत्त्व नहीं देना है । हम तो व्यापारी ठहरे। जो कुछ प्राप्त हो या अनुभव हो इससे अपने काम में कितनी गति मिलती है और उसमें ही सतत उत्कंठा और उत्कंठा भी कितनी तीव्र और बलशाली है और समर्पण एवं शरणभाव कितना संपूर्ण बना रहता है इसे ही अपना मापदंड रखें। यदि वे बढ़ते हुए लगें तो उस ध्यान का चेतनाप्रवाह सच है, नहीं तो उसमें कोई भ्रम है, ऐसा समझें। सही चेतना प्रवाह स्फुरित होने से हमारा दृष्टिकोण बदलता जाएगा; नयी दृष्टि मिलती रहेगी और नयी शक्ति का संचार होता रहेगा।

३. ध्यान के समय अभी आवाजें सुनाई देती हैं, इसका अर्थ है अभी संपूर्ण एकाग्रता नहीं आयी। यद्यपि इसका अर्थ ऐसा नहीं है कि ध्यान में जान बूझकर अचेतन बने रहना है । संपूर्ण अचेतनता का विकास हमारी इन्द्रियों में करना है । मन की शून्यता तो जैसे-जैसे ध्यान में आगे बढ़ते जाएँगे वैसे-वैसे अपने आप आती चली जाएगी और उसके (मन के) अंगउपांग भी ध्यान में साथ साथ रस लेते हुए होने चाहिए। हम किसी उलझन को सुलझाने में इतने ओतप्रोत हो जाते हैं या ऐसा काम आ पड़ता है कि जब हम संपूर्ण रूप से उसमें लिप्त हो जाते हैं। तब सामान्य रूप से हमारे आसपास दूसरा सब कुछ होता रहता है तब

d:\pm5\mar
dhyey_dhya
(2nd

भी उस काम की तीव्रता के कारण, उसमें ही डूबे होने के कारण, उस वातावरण से हम अनजान रहते हैं और किसी के बुलाने पर भी सुनते नहीं है और अचानक किसी के अधिक जोर से पुकारने पर एकाएक चौंककर उत्तर देते हैं । सामान्य काम में भी गहरे उतरने से ऐसा होता है तो ध्यान में उससे अधिक होना चाहिए । ऐसी (ध्यानस्थ) स्थिति में कोई अग्नि प्रज्वलित कर डाले तो उसकी इन्द्रियाँ उससे न जले ऐसा तो न होगा । पर, इससे उसके दुःख को वह प्राधान्य न दें ; इतना भी सही है कि ध्यान में ऐसे एकाएक अचानक आघात से कई बार अधिक नुकसान होने की संभावना रहती है ।

४. ध्यान के समय भाव जागें वह भी ठीक नहीं हैं । किसी भी दौर में abstract (अव्यक्त और निराकार) भाव जगे वह ठीक होता है । पर उदाहरण के तौर पर मेरे प्रति भी प्रेमभाव जगे तो उसे न आने दें । किन्तु भगवान का भाव रहे और काम करे ऐसा ही होना चाहिए ।

५. ध्यान के समय विचार तरंग उत्पन्न हों तब उसके मूल तक जा सकें और मूल का परिवर्तन करवाकर उसे भावना के रूप में परिवर्तित कर सकें तो अच्छा । पर ध्यान के समय प्रारंभ में यह सब होना बहुत कठिन है । ध्यान के अतिरिक्त और उसका जो उद्देश्य है उसके अलावा विचारों के मूल को खोजने पड़ जाएगा या लग जाएगा । इसलिए उसे आने दें और बह जाने दें उसके succeeding thoughts (अनुगामी विचारों) में न पड़ें । यह अपने आप ध्यान में रह सके तो बहुत अच्छा ।

६. मैंने सावधानी रखी थी इससे ध्यान अच्छा हुआ ऐसा ख्याल हम न रखें । भगवान सभी का है । तुम्हारा भी है । तुम जो चाहो उसे कर सकते हो ऐसे हो ही । मैं तो नाचीज, पामर, पतित हूँ । मेरा ऐसा दावा नहीं है कि मैं ही कुछ करा सकता हूँ । हाँ, पहले .....भाई को ऐसा ऐसा वास्तविकता की यथार्थता में रहकर लिखता था । पर अनुभव से पाया कि हजारों बार ऐसा विश्वास उत्पन्न करवाने के कारण देने पर भी जब तक हम में वह स्वयं ही स्फुरित नहीं होता वहाँ तक यह सब कोशिश बेकार है । इसलिए तुम अपने से जो कुछ बने उसे शरणभाव से, निरासक्त होकर, निरभिमानी रहकर अत्यन्त प्रेमभाव के साथ किया करे । तुम लोगों को स्मरण में रखने का मेरा तरीका अलग है, यह तुम्हें शायद समझ आया होगा । इसलिए ही अब मैं इस विषय में कुछ नहीं लिखता हूँ । तुम्हें अपने आप इस विषय में चेतना जागे वही सही है, शेष तो आनंद है ।

ngaleshwar\
an_hindi.pmd
Proof)

७. 'ध्यान किस्तों में रख सकते हैं?' ऐसा तुम पूछते हो । हमें पहले मन से इसे निश्चित करना है कि कितना बैठना है । मानो कि एक घण्टे तो उतने समय ही बैठें । उसके पश्चात् अधिक मन हो तो अधिक बैठें किन्तु यह सब जब तब नहीं होना चाहिए । सब व्यवस्थित योजनानुसार होना चाहिए । किन्तु वह एकमात्र जड़ नियम के रूप में नहीं ।

८. ध्यान में कुछ भी विचार आ जाँय वह अच्छा नहीं । उसमें कक्षा और भूमिका का विचार ही न करें । नहीं तो फिर भ्रम में रहोगे कि चलो खराब विचार के बदले अच्छे विचार आते हैं इसका अच्छा ही है न ?

९. कोई भी काम ऊब के साथ न करें । उस ऊब को प्रेम की भावना बढ़ा बढ़ा कर जीत लेना चाहिए । ध्यान में समय का पता नहीं चलता उतने अंश में तुम्हें ऊब नहीं आती, ऐसा समज में आता है । **('जीवनपगरण', पृ. ६५-६९)**

(१५) जीवनयोग

तुम्हें ध्यान में हरि का अर्थ सूझा कि, 'पाप को हरनेवाला वह हरि ।' उस अर्थ के भाव का पारायण ध्यान में या स्मरण में नहीं करना है । अन्य किसी समय में जरूर किया जा सकता है । ध्यान या स्मरण करते समय ही वैसा न करने का कहता हूँ उसका कारण तो यह है कि 'हरि' का केवल वही एकमात्र गुणधर्म है ऐसा तो नहीं है । इससे तुमने जो हरि का भावार्थ लिखा है वैसे भाव की धारणा स्मरण में रखा करोगे तो हरि के तत्त्व को संकुचित अर्थ में ले लिया माना जाएगा । हम अपने पापों को 'हे हरि ! तुम हर लो ।' ऐसी प्रार्थना करें यह भी उचित नहीं है, क्योंकि 'वह' स्वयं कर्म को प्रेरित करनेवाला कारण है, कर्म भी है, कर्म का कानून भी है और कर्म का परिणाम भी है । और यदि यह समझ सत्य हो तो हम कहीं किसी से भाग छूटने का करें अथवा तो उससे बच जाने के लिए प्रार्थना करें तो ऐसा नहीं बन पाता । वैसे-वैसे कर्मों को redeem करने के लिए—कर्म का प्रक्षालन होने के लिए—संपूर्ण समता से, शांति से, प्रसन्नता से उस-उस कर्म को स्वीकार कर प्रेमभाव से उमंग से उसे किया करें तो उसका प्रक्षालन अपनेआप पूरा हो जाता है ।

समर्पण का ज्ञान और चेतना तो पल-पल में रखें । यह साधना के भाव में अत्यावश्यक है । समर्पण का भाव दैनिक दिनचर्या में यदि ओतप्रोत होने लगे

d:\pm5\mar
dhyey_dhya
(2nd

तो जो एकाग्रता और भावना की शक्ति उत्पन्न होगी, वह हम में अंतर्मुखता लाने में बहुत ही सहायक हो सकती है। इसके पश्चात् उसका भाव नित्य के कर्म व्यवहार में भी अनुभव कर पाएँगें और ऐसी स्थिति उत्पन्न होने से नित्य के नियमानुसार होनेवाले ध्यान में हमें बहुत सहायता मिलती है। ध्यान के प्रभाव से मंतव्य, आग्रह, समझ, मूल्यांकन, दृष्टिबिन्दु आदि व्यक्त होने पर हमें तटस्थ रह पाने की कला प्राप्त होती रहती है। इस प्रकार का ज्ञानमूलक अभ्यास दृढ़ होते-होते उपरोक्त ऐसा सब भी नहीं होता है। हमारे मनादिकरण उस अनुसार आचरण नहीं करते, तब भी नीरवता की स्थिति प्राप्त होने की संभावना होती है। ध्यान के दैनिक अभ्यास की उत्कटता के कारण कुछ समय ऐसी स्थिति कम ज्यादा शायद हो, पर वह दैनिक व्यवहार में सचमुच की नीरवता नहीं ला सकती है। ऐसी संपूर्ण भावात्मक और चेतनात्मक नीरवता मनादिकरण में उत्पन्न हुए बिना चेतन का अनुभव होना कदापि संभव नहीं है।

('जीवनदर्शन', पृ. ११३-११४)

(१६) ध्यान और दैनिक जीवन

ध्यान के प्रकारों में एक दूसरे की खिचड़ी न बनने दें। जीवनविकास संबंधी साधना का भाव पैदा करने और उसे जीवित रखने के लिए जैसे अनेक प्रकार के साधन है, वैसे ध्यान भी एक साधन है। ध्यान में जो तटस्थता, समता, धैर्य, शांति, प्रसन्नता उत्पन्न होती हैं, वह सभी अपने नित्य के दैनिक व्यवहार के आचरण में सोच-समझकर किया करें तो ध्यान उत्तमोत्तम प्रकार का होगा। प्रातःकाल में अमुक निश्चित समय में अमुक समय तक ध्यान किया यानी बस निपट गया। ऐसे ध्यान का जीवनविकास की साधना में कोई अर्थ नहीं होता है। सामान्य रूप से लोग तो जीवन के हिस्से कर ड़ालते हैं। पर वह जरा भी उचित नहीं है। यदि ध्यान में भाव जागा हो तो उसकी असर थोड़ी बहुत भी आधार में उत्पन्न हुई अनुभव होती है और वह असर विचार, वाणी, आचरण में प्रगट हुई प्रतीत होगी। इस तरह ध्यान में से प्रगट होनेवाले परिणामों को समझ समझकर उपयोग किया करें तो साधन समय के जीवन की और उसके बाद के जीवन में एक जीवन्त भावना की श्रृंखला प्रगट हुई हम अनुभव कर सकेंगे। बाकी तो अमुक समय में साधना का किसी एक साधन करें और बाकी के दूसरे

ngaleshwar\
an_hindi.pmd
Proof)

समय में ऊल्टासुल्टा जैसे–तैसे बर्तें और जब तब भी उसमें लगे रहे तो इससे विपरती भावना में अत्यधिक क्षति होती है । यदि ऐसा हुआ करता हो तो ध्यान में, साधना के अभ्यास में तन्मय होने की संभावना बिलकुल नहीं होती है अथवा तो प्रगट नहीं हो पाती ऐसा तो मेरा अनुभव है ।

प्रभुकृपा से जब स्मरण में मुझे अखण्डता, अटूटता उत्पन्न न हुई थी और दिन के बहुत घण्टों तक जब स्मरण न हो पाता था, उस समय उसके अलावा जीवन के दूसरे समय में जो–जो वृत्तियाँ, विचार उठते, इससे मेरी स्वयं की भावना का स्खलन होता बार–बार अनुभव होता था । जैसे–जैसे स्मरणभावना में अटूटता आने लगी अथवा तो दिन के चौदह–पन्द्रह घण्टे स्मरणभावना जागृत होने लगी तद्पश्चात् ही भावना का जोश और अद्‌भुत भाव आता गया । स्मरण की भावना अखण्ड और निरन्तर उत्पन्न होती है, तब भी यानी ऐसी भूमिका में ही भावना की निरन्तरता कहीं पैदा हुई नहीं होती है । स्मरण में अखण्डता और अटूटता उत्पन्न होने के पश्चात् भावना में कैसे अखण्डता और निरन्तरता जीती जागती हर पल उसमें उत्कट प्रमाण में दीप्त होती जाती थी । उसकी चेतना प्रभुकृपा से मुझे होती । स्मरण में निरन्तरता जब आती है, तब भावना को प्रगट करने में कोई अधिक मेहनत नहीं करनी पड़ती । प्रत्येक जो कुछ भी करें भावना के बल से वह हुआ करे ऐसा ख्याल स्वयं प्रगट होता है और कई बार ऐसा नहीं भी होता, तो तुरन्त जाग भी जाता है । इस तरह भावना का एक यज्ञ प्रज्वलित होता रहता है और बाद में उसमें भी निरन्तरता आने लगती है ।

यह सब लिखने का उद्देश्य तो यह है कि ध्यान का उद्देश्य अथवा तो साधन के अभ्यास का उद्देश्य, वैसे साधन के अभ्यास सिवाय के जीवन का दूसरे समय में उस उस प्रकार के साधन की भावना को निरन्तर रूप से उत्पन्न करने में रहा है । इस प्रकार यदि ऐसा होता रहे तो ही जीवन में भावना की एकरूपता और लयबद्धता आ सकती है । तभी भावना में निरन्तरता पैदा हो सकती है । साधना करते समय भावना पैदा हो और उसके सिवाय जीवन के दूसरे समय में भावना का जो खून हुआ करे, तो फिर इन दोनों परस्पर विसंवादी तरीकों से भावना में एक ऐसे प्रकार की क्षति आती है कि जिससे भावना का ही उच्छेद होता जाता है । इससे साधक को साधना के भिन्न–भिन्न प्रकार के साधन के अभ्यास में जितना महत्त्वपूर्ण ध्यान रखना है, उससे भी विशेष ध्यान और विशेष चेतनापूर्ण ध्यान दैनिक होते रहते आचरण व्यवहार में बनाये रखना है और उसके

d:\pm5\mar
dhyey_dhya
(2nd

प्रति उसका विशेष ज्ञानभक्तिपूर्वक का झुकाव पूरी तरह हो गया होना चाहिए । यदि ऐसा न हुआ करता हो तो ध्यान का या ऐसे किसी दूसरे साधन के अभ्यास का कोई अर्थ नहीं है । इस मार्ग को तो मैं एक प्रत्यक्ष जीवनसाधना का मार्ग गीनता हूँ और इसीसे ही उसे 'जीवनयोग' कहता हूँ ।

ध्यान से साक्षीभाव की भावना बनती आती है । वैसा साक्षी भाव हमारे दैनिक आचरण व्यवहार में आये उसकी चेतना भी रखनी है । यदि ऐसा हुआ करता हो और ऐसा अभ्यास लम्बे समय तक हुआ करे तो ही कुछ प्राप्त होगा, उससे अलग रह सके या हो सकने की कला और शक्ति प्राप्त कर सकते हैं । व्यापारी जैसे व्यापार में से लाभ प्राप्तकर उसे पूँजी में जोड़ता है और पुनः उसका उपयोग व्यापार बढ़ाने में करता है, उसी तरह हमें करना है ।

ध्यान के समय स्मरण भावना की धारणा बनी रहे वहाँ तक रहने दें । लीन होने पर वह चली जाए तो जाने दें । उसे पकड़े रखने का प्रयास तो करें ही नहीं । लीन होते होते किसी भी या कुछ ज्ञात न रहे और तब भी अंतर में अंतर से भाव से भाव में सचेतन रहा करें, यह बहुत आवश्यक हैं ।

(**'जीवनदर्शन'**, पृ. ११५-११८)

ngaleshwar\
an_hindi.pmd
Proof)

(१७) आत्मलक्षी भाव

तुम प्रतिदिन जिन प्रार्थनाओं को भेजते हो, उन पर से भी देख सकते हैं कि हृदय में उभरती भावनाओं का उचित उपयोग हो नहीं रहा और मन के नचाएँ नाच रहे हो । 'यह **जीव**' वहाँ था तब भी तुम्हें कहा था, 'तुम केवल स्मरण किया करो वही बहुत है ।' परन्तु दिल में तुम्हें ऐसा रहा करता है कि, 'दूसरे साधन में मैं कमजोर हूँ आदि आदि ।' तुम्हें ऐसा कुछ मानने की आवश्यकता है ही नहीं । तुम्हें जो कुछ करना हो वह प्रेम से किया करो । परन्तु उसके बाद उस पर के ऐसे या वैसे विचार करना छोड़ दें । कितनी बार तुमने मुझ से पूछा था, 'मेरा ध्यान कैसा हुआ था?' तब भी मैंने कहने को साफ मना किया था । इतना होने पर भी इसप्रकार के भ्रम कूप में कहाँ तक फिरते रहोगे ? मेरे प्यारे ! जो कुछ करना है वह उमंग होकर करो । ध्यान भी करना न आए तो उसे छोड़ो । केवल भावात्मक स्मरण का साधन कोई छोटामोटा नहीं है । जो कुछ हुआ करे उसे उमंग से होने दें और फिर प्रेम से भगवान को सौंपा करो । कुछ

नये अनुभव या नयी भावना, नयी समझ प्राप्त हो, तब अवश्य लिखना । साधन के विषय में उसे किया करे लेकिन इनके अलावा दूसरे विचार हमें नहीं करने हैं और हों तो उनके प्रति कुछ भी महत्त्व हमें प्रगट नहीं होने देना है ।

हमारा दृष्टिकोण परावलम्बी या परलक्षी होना नहीं है, आत्मलक्षी होना है । हम अपने आप स्वयं पर आधार रखें और तद्पश्चात् ज्ञानभक्तिपूर्वक की नम्रता बनाये रखकर सीखें तो कितना उत्तम ! तुम्हें वैसा कितनी बार प्रेम से कहा है ! इसलिए अब तुम पत्र लिखना बंद करो तब भी आपत्ति नहीं है । यद्यपि ऐसा लिखूँ तो वापिस तुम तर्कवितर्क पर चढ़ जाओगे । इसलिए मात्र मन का गुबार निकालने के लिए पत्र लिखना हो तो भले लिखो

कितनी बार ध्यान में कविता स्फुरित होगी यह स्वाभाविक है क्योंकि कविता का उद्भव स्थान ऊर्मि है । परन्तु कविता लिखने की ऊर्मि ध्यान में पैदा हो तब उसका सदुपयोग इस ढंग से करना है कि यह ऊर्मि हृदय में हृदय से अधिक से अधिक एकाग्र होने में उपयोगी हो । ध्यान करते समय कविता लिखने की ऊर्मि आएँ तो ध्यान छोड़कर कविता लिखने न बैठ जाँए । ध्यान पूरा हो उसके बाद यदि वह याद रहे तो उसे लिख लें, परन्तु ध्यान के दौरान तो नहीं । क्या गौण है क्या प्रधान है उसका विवेक हमें रखना है । ध्यान में समय की गिनती कुछ भी न करें, यह भी मैंने तुम्हें बतलाया है । अब कितनी देर तक ध्यान चला वह भी नहीं लिखना और तुम भी उसकी गिनती नहीं करना ।

'इस **जीव**' के प्रति भाव आते हैं, इससे तरंग, प्रेमभाव तो स्फुरित होता है । परन्तु उसे तितर-वितर किया जा सकता है । इसलिए तुम्हें लिखा है कि तुम्हें मात्र स्मरणभाव पर ही ध्यान रखना है । दूसरों को देखा करने की आदत को बिलकुल छोड़ दें । नहीं तो स्वंय दुःखी हुआ करोगे । 'हम नालायक निकले' ऐसे गलत विचार न आने दें । उल्टे इस प्रकार की लघुताग्रंथि (inferiority complex) से मुक्त होना है । ऐसी लघुताग्रंथि बनने के विभिन्न कारण हो सकते हैं । दूसरों से साधना के साधन अच्छी तरह से हो सकते हैं । इस तरह दूसरों को देखने की आदत में से 'लघुताग्रंथि' होने की संभावना है । हम में भी चेतनमय प्राणवान शक्ति जागृत हो तो हम भी वैसा करने में समर्थ हैं, ऐसी इच्छाशक्ति सबल बनानी है । द्विधापन हम नहीं छोड़ सकेंगे तो हमें कौन छुड़वा सकता है? अभी हमें किसी अमुक जैसे होने की लालसा बनी रहती है । उसे तो जड़ से निकाल फेंकना होगा । हम जो हैं उसी में से ही हृदयस्थ चेतनमय

d:\pm5\mar
dhyey_dhya
(2nd

'एक' जगाना है और बनना है। इसलिए दूसरे क्या या कितना करते हैं या क्या कर सकते हैं, ऐसे विचार कर हमें निराश नहीं होना है। इतना ही नहीं मात्र बाहर दीखते साधना के प्रयत्नों से मनुष्य के अंदर की साधना का माप नहीं निकाल सकते, वैसे ही उसकी कक्षा का माप भी हमसे नहीं निकाला जा सकता है। हमें जिसे निकालना या मापना चाहिए, इससे तो हम स्वयं को ही अन्याय कर बैठेंगे और इससे ग्लानि या निराशा पैदा होगी। दूसरों के प्रति दृष्टि, वृत्ति तथा रुख हमें तो समझ समझकर अंतर्मुखता पैदा करने की दिशा देनी है। स्वयं जैसे जहाँ खड़े हों, वहाँ से आगे जाने के उद्देश्य से स्वयं के दोषों का निरीक्षण करके उनमें से मुक्त होने के लिए हमें उस प्रकार के प्रयत्न के साथ प्रार्थना के साधन का भी उपयोग करना है।

अब तुम्हें मात्र स्मरणभाव के साधन का उपयोग करना है और समर्पण भाव तो चाहिए ही। ज्ञानभक्तिभाव से जितना अंतर्मुख हुआ जाए और रहा जाए उतना उत्तम। प्रार्थना का साधन तो है ही। ध्यान के विषय में जो स्पष्ट न लिखूँ तो फिर हम उल्टेसीधे विचार करने लग जाएँगे कि यह तो Vote of censure (नालायकी का मत) हुआ। इसलिए विशेष रूप से लिख रहा हूँ कि ध्यान में से यदि जागृति, एकाग्रता, शांति, प्रसन्नता, तटस्थता, समता, धैर्य आदि प्रकार के रचनात्मक लक्षण उत्पन्न होते हों या बढ़ते हो तो ध्यान करते रहें। परन्तु यदि इनमें से विचार की तुला स्थिर न रख सकें ऐसी स्थिति उत्पन्न होती हो, तो बेहतर है कि ऐसा ध्यान न करें। जिस साधन द्वारा साधन का उद्देश्य ही फलित न हो सके और उस साधन से ऐसी स्थिति यदि उत्पन्न न होती हो और विपरीत स्थिति में हम फल पा रहे हों, तो उस साधन को छोड़ देना ही उचित है। अथवा तो उसके करने के तरीके और भाव में कहाँ हम में दोष है, उसे खोजकर उसे योग्य ढंग से करने की कला प्राप्त करनी है। साधन के गलत होने की संभावना कम है। साधन को किस किस योग्य तरीके से आचरण करना है, उसे जान लेना आवश्यक है। परन्तु कदम-कदम पर कोई हमें चलाया करे ऐसा तो कभी भी किसी से होनेवाला नहीं है। हमें स्वयं में ऐसा दिल का भाव पैदा होता है, तब उस प्रकार के साधन बताने पर हमसे ऐसा होना संभव होता है।

हम विचारों के भंवर में बहुत फँस जाते हैं। इसलिए सर्वप्रथम तो हमें उस पर नियंत्रण पाना चाहिए। उसके उपाय के रूप में हमें अपने मन को निहारना चाहिए। अब तुम पत्र लिखो वहाँ तक यहाँ से कुछ नहीं लिखा जाएगा। इसमें

ngaleshwar\
an_hindi.pmd
Proof)

Vote of censure (नालायकी का मत) जैसा कुछ नहीं है । मात्र हम अपने आप को अधिक तटस्थता से उत्तम रूप में निहार सकें, उसके विकास के लिए यह कदम हैं । कृपाकर हमें तो सर्व प्रकार से निश्चिंत बनना है ।

'इस **जीव**' के लिए जो प्रेम के भाव तुम्हें उठते हैं, उसका यदि साधना की प्रगति में उपयोग न हो सकता हो तो ऐसे भाव साबुन के झाग के बुलबुलों जैसे हैं न ? प्रेमोर्मि तो शक्ति है । वह हमारा उत्तम साधन है । मानो कि 'इस **जीव**' के लिए तुम्हें प्रेम की ऊर्मि हृदय में हुई तो इस समय दौरान उस प्रकार की जागी प्रेमोर्मि से मेरे में तुम्हारा हृदय एकाग्रता से पिरोया हुआ अनुभव हो तभी उस प्रेमोर्मि को यथायोग्यरूप से समझ सकते हैं । किसी के प्रति जागी प्रेमोर्मि तो हमें उसमें एक रसता से डूबा सकती है । ऐसे दिल में दिल से उत्पन्न हुई प्रेम की भावना तो परस्पर के दिल की निकटता व्यक्त करती है। ऐसी प्रेमभावना तो भेद को मिटाती है । 'इस **जीव**' के प्रति तुम्हारे में जागृत प्रेम की ऊर्मि को शक्तिरूप समझकर कृपाकर उसका उपयोग करना, हमें ध्यान में रखना है ।

हमें मात्र कर्म करने का अधिकार है और वह कर्म भी इस तरह से करना है कि कर्म करते समय मन में यहाँ या वहाँ किसी प्रकार का द्विघाभाव या अन्यथापन के विचार न आँए । कर्म को जीवन उद्देश्य भाव को ध्यान में रखकर करते जाना है । हमें जो कुछ सूझा है, उसे किया करें और उसमें ही सारा ध्यान और सारी शक्ति पिरोयें, इतना ही हमारे लिए उचित है और वह पर्याप्त है । कर्म के फल को ध्यान में रखा करेंगे तो गलत अधीरता आ जाती है और वह तो मन की विह्वलता और चंचलता का एक लक्षण है । इससे तो हमें जो चाहिए, वही उल्टा अधिक खो बैठते हैं । क्योंकि मन की विह्वलता और चंचलता के स्वभाव को हम अधिक सतेज कर रखते हैं; जबकि हमारा उद्देश्य तो मन की तुला को स्थिर रखना है । (**'जीवनदर्शन', पृ. १२३-१२९**)

d:\pm5\mar
dhyey_dhya
(2nd

(१८) ध्यान में प्रगति और सावधानी

ध्यान में एकाग्रता नहीं आती, विचार अभी भी बहुत आते हैं, इसका कारण है उस समय भाव में एकाग्रता, केन्द्रितता के परिणाम स्वरूप हृदय में गहराई नहीं आती । पर हमेंत ब सविशेष सावधानी रखकर ध्यान में उसके तारतम्य में ही लगातार जागृति से प्रयत्न करना है । हमारे दैनिक जीवन में होनेवाले कर्म में जीवन

विकास के उद्देश्य का लक्ष्य जितना अधिक से अधिक लगातार रहेगा और उसमें हृदय का भाव जीवन्त बना रहे उसके अनुपात में हमारा ध्यान उत्तम होना चाहिए । ध्यान में उत्तमता और सहजता लाने के लिए हमें अपने दैनिक कर्म व्यवहार में दिल की धारणा ध्येय में रखने हेतु लगातार ज्ञानपूर्वक यत्नशील रहना है । प्रत्येक पल जागृति रखनी है । कोई सुंदर दृश्य या चित्र या रुचि जागे ऐसी पुस्तक पढ़ने में हम तल्लीन हो जाते हैं, तब दूसरे विचार हमारे अंदर प्रवेश नहीं कर पाते । इसी तरह जब हमारे जीवन में अपने ध्येय के प्रति ऐसी रुचि जाग जाती है, तब अपने आप एकाग्रता, तल्लीनता और तन्मयता आ जाती है । हम में दोष तो यह है कि अभी हमें जीवन के प्रति वास्तविक सचमुच अंतःकरण से पूरा रस जागा ही नहीं है । हम सब अभी यहाँ वहाँ मिथ्या प्रयत्न कर रहे हैं । वास्तविक जीवन को प्राप्त करने की अभी हमें कुछ पड़ी ही नहीं है । उसकी छटपटाहट यदि लग जाय तो दूसरे गलत विचार स्वयं बंद हो जायेंगें । कोई नैसर्गिक रम्य दृश्य देखने पर सहजरूप से उसमें रहे सौन्दर्य की कदर करने और उसके उपभोग करने की रसवृत्ति हो जाती है । इससे उसमें से रुचि और रुचि से भाव पैदा होता है, इसलिए तब विचार नहीं आते हैं, पर ध्यान में या त्राटक में हमें किसी भी प्रकार की रुचि जागी नहीं है और उसका अनुभव न होने से उसमें रुचि या भाव का सर्जन नहीं होगा, इसलिए एकाग्रता न हो, यह समझ में आए ऐसा है । हमारी जीवन–नौका की दिशा बदल जाने की बहुत ही आवश्यकता है । हमारा जिस ओर मुँह मुड़ा होता है, उधर प्रत्यक्ष का दिखाई देता है । जब तक जीवनविकास के ध्येय का सतत मनन–चिंतन लगातार अनुभव न होता हो, वहाँ तक समझें कि, जीवनविकास का ध्येय अभी हमारे द्वारा सही अर्थ में स्वीकार नहीं हो पाया है । दिन के दूसरे समय में अनेक प्रकार के आंतरिक प्रवाहों में और दैनिक कर्मव्यवहार में मनादिकरण रस लेते होते हैं, तद्पश्चात् ध्यान में एकाग्रता और केन्द्रितता किस तरह आ सकती है ? किसी भी विषय का अभ्यास बढ़ते–बढ़ते वह विषय सरल होता है और उसमें रुचि भी उत्पन्न होने लगती है, अतएव ध्यान का होशियारीपूर्वक जागृति के साथ अभ्यास बढ़ते–बढ़ते उसमें अनोखा आनंद और रस आने लगता है । जैसे–जैसे दैनिक सभी प्रकार के कर्मव्यवहार में और करणों का आंतरिक व्यापार में ज्ञानपूर्वक की तटस्थता और समता आती जाएगी वैसे–वैसे ध्यान में विचारों के प्रवाहों का जोर कम होता जाएगा और बाद में उसमें एक प्रकार का चेतनमय शून्यत्व का अनुभव अवश्य होगा ।

ngaleshwar\
n_hindi.pmd
Proof)

एकटक देखने से एकाग्रता आती है। उसका अनुभव करने के लिए एक उपाय कर देखें। तुम्हें जो कोई भजन खूब अच्छा लगता हो और प्रिय लगता हो उस भजन सहज भाव से गाएँ और दूसरी बार उसी भजन को किसी पर आंख को स्थिर कर, बंध किये बिना भाव से गाएँ। दोनों बार के भाव की गहराई की तुलना करें। जब भाव में अत्यधिक एकाग्रता आती है, तब आँख अपनेआप स्थिर रहने लगती है। आँख को उस समय स्थिर नहीं करना पड़ता। इसी तरह जब हमें जीवनसाधना में सचमुच आनंद आता है तो उसमें एकाग्रता आती जाती है। तब साधना नहीं करनी पड़ती। तब वह तो अपने आप सहजता से होती जाती है।

हम में जो कोई वृत्ति उत्पन्न होती है, उसमें बह जाने की आदत पड़ी होती है। कुछ आघात लगा तो उसमें बहकर उदासी में डूब जाएँगे। कोई हर्ष का प्रसंग आया तो उसकी तरंगों में खो जाते हैं। परन्तु अब तो वैसा होने में हमें जाग्रत रहना है। यह निश्चित समझें, संपूर्ण जाग्रत न रह सकें तो जीवदशा ही रहनेवाली है। 'इस मार्ग' में जागृति की अत्यधिक आवश्यकता है। जो जाग सकता है वही जी सकता है, अन्य नहीं। प्रारंभ में साधक को जो आनंद रहता है वह तो नदी के उद्‌गम जैसा है। भरुच के आगे इतनी बड़ी हो जाती नर्मदा नदी उसके उद्‌गम पर तो इतनी छोटी और संकड़ी है कि उसे हिरन द्वारा भी छलांग लगाई जा सकती है। जीवनसाधना भी एक नदी जैसी है। ज्ञानभक्तिपूर्वक का चेतन अभ्यास बढ़ते-बढ़ते वह बड़ी और चौड़ी होती जाती है और गहरी भी होती जाती है। जो आनंद प्राप्त हुआ, उसका उपयोग साधना के अभ्यास में ज्ञानपूर्वक किया करना है। आनंद में बह नहीं जाना है, उसका उपभोग नहीं करना है, पर ध्यान में से उत्पन्न आनंदभावों का उपयोग अधिक एकाग्र और केन्द्रित होने के लिए करना है। मन की चालबाझी को और दूसरे आंतरिक प्रवाहों को समता के साथ विकास कर निरखा करना है। बाकी 'मनने' में लिखा है कि, 'घड़ी में तो आकाशगंगा पर चढ़ाता है यदि बह गये तो बुरे हाल होते हैं।' इसलिए आनंदवृत्ति में मन के बहे बहना नहीं है, यह ध्यान में रखें।

आज तो ध्यान से आनंदवृत्ति है, पर कल कोई दूसरी इससे विपरित ही वृत्ति प्रकट हो सकती है। ऐसे अनुभव भी हो सकते हैं। विपरीत अनुभव हो तब कृपा करके बेचैन न हों, उसे भी एक passing phase गिनकर निकल जाते बादल की तरह जाने देना है यह ध्यान में रखें। कहीं भी किसी में न फँसे और उसकी गहरी छाया हमें घेर न ले उस विषय में तो सतत जागृत रहें। जैसे तैसे

d:\pm5\mar
dhyey_dhya
(2nd I

जीवनध्येय के प्रति भावना दैनिक कर्मव्यवहार में अखंडितरूप से बहा करे और आंतरिक करणों के जीव प्रकार के प्रवाह में न बहें तथा उसमें तटस्थता, समता, शांति, प्रसन्नता पैदा हुआ करे और वैसा करने से हृदय से जागृतिपूर्वक प्रभुकृपा से प्रयत्नशील रहें, उसी का नाम सच्ची साधना है । जो कुछ भी जीवदशा का हो या प्रकट हो उसका यदि जागृति से उस उस पल इन्कार हुआ जाय और यदि उसकी लम्बी परम्परा न चले और मनादिकरण भावना में एकाग्रता से तल्लीन अनुभव हों, तो इन्कार हुआ है ऐसा सही रूप गिन सकते हैं । कहीं किसी भंवर में मनादिकरण डूबे न रहे अथवा डूबते हो उस समय जागृति से चेत जाएँ और इन्कार कर फिर से स्वस्थ होने की कला प्राप्त हो और ऐसी कला में अखण्डता बनी रहे उस समय से सच्ची साधना की शुरूआत होती है ।

('जीवनसंशोधन', पृ. ६०-६४)

अभी, हमारा मन दूसरों के अभिप्राय पर देखने का मन रहा करता है । ऐसी वृत्ति हम से जितनी जल्दी विदाय ले उतना अधिक अच्छा है । अब तक 'यह जीव' ने तुम्हें साधना के विषय में मनपसंद वचन कहते आया हैं, यह इसलिए कि तुम्हारा मानस ऊँचा-नीचा न हुआ करे । हमारे विषय में कोई अच्छा बोले तो वह तुम्हें बहुत पसंद आता है, पर ऐसा स्वभाव उचित नहीं है । इससे भी हमें मुक्त होना चाहिए, ऐसा सुनने के लिए हमें प्रेमपूर्वक अस्वीकार करना चाहिए । तुम्हारी प्रकृति या स्वभाव को एकदम सामना करने से कुछ भी प्राप्त नहीं होगा । इसलिए तुम्हारी प्रकृति या स्वभाव का सामना करना अभी नहीं रखा है । हम से जितना थोड़ा बहुत हो तो 'उसकी' कृपा से अधिक हो सके तो कैसा गजब हो जाय ! ऐसा दृढ़ता के साथ उसी क्षण वह सब जिसकी मालिकी का हो उसे ही समझ समझकर समर्पण करके अधिक से अधिक ज्ञानपूर्वक पूरी तरह नम्र होकर हृदय की उमंग से तत्पर बना करें । नम्रता यानी कायरता नहीं । सच्ची नम्रता में तो तेजस्विता और शौर्य उत्पन्न होता है ।

ध्यान में आने वाले विचारों के उपाय तो सूचित किये ही हैं । बतलाये अनुसार एकनिष्ठा से पूरी तरह आचरण किये बिना अनुभव तो किस तरह प्रकट हो सकता है ? और आचरण में किसी भी प्रकार की एकधारा को प्रकट नहीं होती है, वह हम में बड़े से बड़ी कमी है ।

अब दूसरी एक बात; जब भी तुम्हें उदासी के mood (भाव का आवेश-युक्त आवेग) आए कि (ऐसे mood पहले तो अत्यधिक आते और उसकी असर

ngaleshwar\
an_hindi.pmd
Proof)

लम्बे समय तक टिकी रहती, परन्तु अब जब वह पैदा हो) तुरन्त आश्रम में से दूर जाकर जोर से हरिः ॐ बोलें अथवा सद्‌गुरु को हृदय में हृदय से पुकारें तो उदासी की वृत्ति अदृश्य हो जाएगी और फिर आनंद प्राप्त होगा ।

तुम्हें अभी जाप की स्मरणभावना लगातार रूप से नहीं बन रहती और टिकती भी नहीं । ध्यान में भी धारणा सतत व्याप्त रहती नहीं है । यब सब लिखकर मुझे तुम्हें निरुत्साहित नहीं करना है, परन्तु विशेष जाग्रत करना है । कुछ हो या न हो, पर जो एक बार ले लिया है, उसे अखण्ड रूप से प्रेमभक्ति के साथ आनंद से आगे बढ़ायें । इतने कम समय में भी तुम्हें उसके प्रत्यक्ष परिणाम मिले हैं, उसे तुम नकार नहीं सकते । कितनों को तो कर्म में निराशा में ही डुबकियाँ लगानी पड़ती हैं । साधना में ऐसा भी समय आता है कि जिसमें निराशा का अन्त ही न दिखे । परन्तु हमने जो ध्येय हृदय में रखा है, उसमें यदि वास्तविक रूप से और भाव से लगे रह सके और उसके प्रेमसागर में पूरी तरह कूद पड़े, उसमें संपूर्ण रूप से समर्पित होकर, न्योछावर हो जाए, भावपूर्वक 'उसके' चरणकमल में यदि लय हो जाएँ तो कहीं किसी भी प्रकार की शिकायत नहीं रहेगी । **('जीवनसंशोधन', पृ. १२२-१२४)**

बालक को देखते ही उसके जैसी ही निर्दोषता जीवन में प्रगटे । कोई प्रेमी सच्चे हृदय के प्रेमभाववाला देखें तो उनके जैसा वास्तविक प्रेम प्रभु के प्रति हमारे जीवन में दीप्त हो, कोई सचमुच कार्यरत ऐसे जीव को देखें तो उसके जैसी प्रक्रिया हमारे ध्येय के प्रति हम में आए । किसी साधु पुरुष को हम देखें तो उनके जैसी साधना करने की तीव्र तत्परतावाली भावना और शक्ति का ओज हमारे जीवन में प्रभुकृपा से आए । किसी निर्मल भावनावाली बहन या माता को देखें तो उनकी जैसी निर्मलता हम में आए । किसी नैसर्गिक सुंदर दृश्य को देखें तो उसके जैसा प्रभु का आविर्भाव हमारे में भी उद्‌भव हो । नदी को देखते ही उसके जैसा उत्साह और उन्माद के साथ अविरत रूप से जोश के साथ जैसे अपने ध्येय के प्रति आगे धँसती रहती है, वैसे ही हमारे अपने जीवन में हो । किन्हीं दो सच्चे मित्रों को देखकर उनके जैसा मैत्रीभाव, सखाभाव, प्रभु के प्रति जीवन में जागे— इस प्रकार के जीवन में प्राप्त होते अनेक प्रसंग और दृश्य जहाँ जहाँ दृष्टिगत हों वहाँ-वहाँ ऐसे भाव जागृत रख, पैदा कर, हृदय में बनाकर, ध्येय का उद्देश्य फलित करने हेतु उस-उस प्रकार की हृदय से प्रार्थना करें । वह भी एक बड़ा साधन है । इस प्रकार 'यह **जीव**' निरन्तर करता आया है, इसलिए तुम्हें विवरण

d:\pm5\mar
dhyey_dhya
(2nd

सहित लिखा है। तुम वह सब करते रहो इसलिए भी लिखा है। ऐसे भाव हमें जीवन में सहायरूप होते हैं, इसलिए इसप्रकार ज्ञानात्मक अभ्यास तुम करोगे।

तुम ध्यान में एकाग्र स्थिति प्राप्तकर आगे पीछे का सारा भान भूल जाओ ऐसा चाहते हैं। निरन्तर प्रेमभक्तिपूर्वक लगातार जीते जागते अभ्यास की निरन्तरता में से यह स्थिति उत्पन्न होती है। केवल अधीर बनने से काम नहीं चलेगा। अब से ध्यान में पाँच-छः घण्टे एकसाथ कभी न बैठना। खाने के बाद कभी न बैठें। साधना की ही धून दैनिक कर्मव्यवहार में रहा करे और वह लक्ष्य में रहा करे, वही उत्तम है। ऐसे भाव की निरन्तरता दैनिक व्यवहार में जैसे जैसे जीती जागती प्रकट होती जाएगी ही, वैसे ही ध्यान में गहरे उतरते जाओगे। ध्यान में गहरे नहीं जाया जाता इतना वातावरण अपना कच्चा है। तुम कहोगे कि 'एकाद धक्का मारो न!' हमारा पूरा हृदय परिवर्तित हो जाएगा तब ऐसे धक्के मिले करते है—उसका भी ज्ञानात्मक अनुभव होगा। अभी तो ऐसे धक्के भिजवाये जाते हों और वे वापिस फिरते हों, ऐसा कुछ लिखने का कोई अर्थ नहीं है।

बालक जब माता-पिता से कुछ माँगता है, हठ करता है, तब मातापिता उसे देते हैं सही, पर ऐसी हठ कोई रास्ते पर जानेवाला करता है—और बालक से भी वह अधिक माथापच्ची करता हो और उसकी हठ में बालक से भी अधिक उत्कटता हो, तब भी उसकी वह हठ पूरी नहीं होती क्योंकि बालक और माता-पिता के बीच जो हृदयभावना का संबंध बंधा है, वैसा भावप्रेम संबध उस दूसरे मनुष्य के साथ नहीं बंधा है। उसी तरह साधना में महत्त्वपूर्ण सच्चाई—साधना का उद्देश्य—ऐसा भावसंबंध स्थापित कर विकसित करना है। हमारे बीच ऐसे हृदय-हृदय का भावसंबंध बनकर प्रत्यक्ष प्रमाण में जीवित हो और वह हमारे दैनिक कर्मव्यवहार में रहा करे, तभी सही स्पर्श और सत्संग का अनुभव होगा। मेरे अपने सद्गुरु के साथ दिल में दिल से इस प्रकार के भावात्मक सूक्ष्म प्रयोग करते हुए प्राप्त करके जो अनुभव मिला है, उसे तुम्हें प्रेमभाव से तुम्हारे अंतर में उतारने के लिए नम्रभाव से लिखता हूँ। प्रत्यक्ष प्रयोग करके देखने से एकदम सत्य समझ में आएगा। इसलिए कृपाकर धीरजपूर्वक निष्ठा और उत्साह से हमें दिखाई देने लग जाएँगें।

हम जैसे होगें वैसा 'वह' हमें बनाएगा। इसमें बनाने जैसा कुछ नहीं है। इसलिए जैसे होंगे और जैसा भाव प्कट करेंगे उसी ढंग से होंगे, ऐसा समझ लें।

('जीवनसंशोधन', पृ. ३७५-३७८)

ngaleshwar\
an_hindi.pmd
Proof)

तुम्हें शरीर में गैस (वायु) हुआ करती है। इसलिए नीचे के प्रयोग कर देखें। ध्यान में स्थिर होकर बिलकुल सीधे बैठकर नाभि के नीचे के भाग पर तथा बीच में और सहज ऊपर उतने हिस्से पर चित्तवृत्ति सारी एकाग्र करके वायु का नाश होने की भावना बनाएँ अथवा वह वायु तुम्हें सानुकूल हो ऐसी भावना रखें तो अवश्य लाभ होगा। प्रयोग करने से सही समझ प्रकट होती है। पर इसमें एकाग्रतापूर्वक ध्यान की विशेष आवश्यकता है। (**'जीवनसंशोधन', पृ. २४४**)

● ● ●

d:\pm5\mar
dhyey_dhya

(2nd I